सूचीपत्र

पहला परिच्छेद

दूसरा परिच्छेद

तीसरा परिच्छेद

चौथा परिच्छेद

पाँचवाँ परिच्छेद

छठा परिच्छेद

सातवाँ परिच्छेद

आठवाँ परिच्छेद

निवेदन

यह उपन्यास नहीं, न क़िस्से कहानी की किताब है। यह श्री बाबू ज्ञानेन्द्रमोहनदास के बँगला "चरित्रगठन" का हिन्दी अनुवाद है। श्रीज्ञानेन्द्र बाबू ने चरित्रगठन पुस्तक की रचना करके मानव-समाज का कितना बड़ा उपकार किया है, यह वर्णनातीत है। सभी सभ्य समाज के प्रधान विद्वान् समालोचक मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा कर चुके हैं।

मनुष्य जीवन के साथ चरित्र का कैसा घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह कहने की आवश्यकता नहीं। सच्चरित्रता और दुश्चरित्रता के फलाफल की बातें किससे छिपी हैं? हाँ, इतना अवश्य कह सकता हूँ कि यह चरित्रगठन दुश्चरित्र-रूपी रोग का महैाषध है। ग्रन्थकर्ता ने इस पुस्तक में चरित्र-सुधार की जितनी बातें लिखी हैं, सभी मन्त्र के बराबर हैं। पढ़ने के साथ चित्त पर असर कर जाती हैं। कैसा ही कोई दुश्चरित्र क्यों न हो, जो इसे एक बार पढ़ेगा वह उसी घड़ी से अपने चरित्र-सुधार पर तत्पर होगा। इतना ही नहीं, बल्कि उसे दुश्चरित्रता की बातों पर इतनी घृणा उत्पन्न होगी कि वह भूल कर भी कभी उनका नाम न लेगा।

चरित्रगठन

पहला परिच्छेद

प्रत्यहं प्रत्यवेक्षेत नरश्चरितमात्मनः ।
किं नु मे पशुभिस्तुल्यं किं नु सत्पुरुषैरपि ॥ १ ॥
अनुगन्तुं सतां वर्त्म कृत्स्नं यदि न शक्यते ।
स्वल्पमप्यनुगन्तव्यं मार्गस्थो नावसीदति ॥ २ ॥

भावार्थ—मनुष्य को प्रति दिन अपने चरित्र की आलोचना करना चाहिए और यह सोचना चाहिए कि मेरा आचरण पशु के तुल्य है किंवा सत्पुरुष के सदृश ॥ १ ॥

यदि सज्जनों के बताये मार्ग पर जितना चलना चाहिए उतना नहीं चल सकते तो थोड़ा ही थोड़ा चलकर आगे बढ़ने की कोशिश करो, रास्ते पर जब पाँव रक्खोगे तब सुख मिलेहीगा ॥ २ ॥

सद्भिरेव सहासीत सद्भिः कुर्वीत संगतिम् ।
सद्भिर्विवादं मैत्रीं च नासद्भिः किञ्चिदाचरेत् ॥ ३ ॥

जलविन्दुनिपातेन क्रमशः पूर्यते घटः ।
स हेतुः सर्वविद्यानां धर्मस्य च धनस्य च ॥ ४ ॥

यथा चतुर्भिः कनकं परीक्ष्यते
निघर्षणच्छेदनतापताडनैः ।
तथा चतुर्भिः पुरुषः परीक्ष्यते
श्रुतेन शीलेन गुणेन कर्मणा ॥ ५ ॥

सज्जनों के साथ बैठना चाहिए, सज्जनों की संगति में रहना चाहिए और सज्जनों के ही साथ मैत्री या विवाद करना चाहिए । दुर्जनों से किसी प्रकार का सम्पर्क नहीं रखना चाहिए ॥ ३ ॥

बूँद बूँद पानी से जैसे घड़ा भरता है वैसेही विद्या, धर्म, और धन भी धीरे धीरे पूर्णता को प्राप्त होते हैं ॥ ४ ॥

जैसे घिसने, काटने, तपाने और पीटने, इन चार बातों से सोने की परीक्षा होती है वैसेही विद्या, स्वभाव, गुण और क्रिया इन चार बातों से पुरुषों की जांच होती है ॥ ५ ॥

सच्चरित्रता ही उन्नति का मूल है ।

मनुष्य जो कुछ काम करते हैं, सुख के लिए ही करते हैं । सुख पाने की इच्छा सब को रहती है । सब का उद्देश यही रहता है कि हमको सुख मिले । किन्तु गला फाड़ कर सुख सुख चिल्लाने से किसी को सुख नहीं मिल सकता । सुख तभी मिल सकता है और उन्नति भी तभी हो सकती है जब उचित रीति से अपने कर्तव्य कर्म का पालन किया जाय । तुम लोग जो इतना धन ख़र्च करके और परिश्रम करके विद्या-लाभ कर रहे हो सो क्यों ? सुख ही के लिए न ? यदि तुम सुख-दुःख की बात न समझ कर यह कहो कि हम धन प्राप्त करने के लिए विद्याभ्यास करते हैं तो मैं कह सकता हूँ कि तुमने विद्याभ्यास का असली तात्पर्य नहीं समझा । धन भी तो लोग सुख से समय बिताने ही के लिए कमाते हैं—इससे यह न समझना चाहिए कि सिर्फ़ रुपया कमाने ही के लिए बालकों को विद्याभ्यास कराया जाता है । शिक्षा का प्रधान उद्देश है चरित्रगठन । यदि शील-स्वभाव अच्छा न हुआ तो विद्याभ्यास का फल क्या हुआ ? मनुष्य-योनि में जन्म लेने ही से कोई मनुष्य कहलाने योग्य नहीं होता ।

मनुष्य कहलाने के लिए शिक्षा ग्रहण करना नितान्त आवश्यक है । विना शिक्षा पाये वास्तविक मनुष्यता प्राप्त नहीं

होती; इसी लिए बचपन में बालकों को शिक्षा दी जाती है। हम केवल द्रव्यलाभ ही के लिए विद्या सीखते हैं-ऐसा किसी को न समझना चाहिए। बल्कि उन्हें यह समझना चाहिए कि हम मनुष्यपद को सार्थक करने के लिए विद्या पढ़ते हैं। सच्चरित्रता ही मनुष्य-जीवन का प्रथम साधन है। सभी लोग विद्या पढ़कर शिष्टाचार, विनय, उपयुक्त साहस, सहनशीलता और सत्यपरायणता आदि अनेक गुणों से अपने हृदय को अलंकृत कर और सच्चरित्र बन कर बहुत कुछ अपनी उन्नति कर सकते हैं। सच्चरित्र होने से लोगों को मानसिक सुख का विकास विशेषरूप से होता है। और वे सच्चरित्र व्यक्ति अपने जीवन के दिन बड़े सुख से व्यतीत करते हैं। दुश्चरित्र लोगों का तो कोई संसार में विश्वास तक नहीं करता।

सच पूछो तो भारतवर्ष की अवनति का कारण भारतवासियों की दुश्चरित्रता ही है। भारतवासी यदि अपने स्वभाव को न बिगाड़ते तो उन्हें ऐसे दुःख का दिन देखने में न आता। आज कल श्रीरामचन्द्रजी और लक्ष्मणजी के सदृश सुशील, युधिष्ठिर के सदृश सत्यप्रिय, भीष्म के सदृश दृढ़प्रतिज्ञ, भीम, अर्जुन आदि के सदृश भ्रातृवत्सल, विदुर के समान विनयी, व्यास, वसिष्ठ, कपिलदेव आदि ऋषियों के समान ज्ञानी और पूर्वकालिक आर्यगणों के समान धर्मभीरु, राजभक्त तथा

दया, क्षमा आदि गुणों से युक्त प्रायः एक भी मनुष्य कहीं दिखाई नहीं देता। पर तो भी अभी तक आदर्श पुरुषों का एक दम लोप नहीं हुआ। इस पवित्र विशाल भारतवर्ष में आदर्श पुरुषों का बिलकुल अभाव हो जाना क्या कभी संभव है? इस वर्तमान भारत में भी अनेक महापुरुषों ने जन्म ग्रहण करके अपने उदार चरित्रों से लोगों को अनेक उपदेश दिये हैं।

क्या घर, क्या बाहर, क्या स्वदेश और क्या विदेश अब भी उन महात्माओं के सच्चरित्र की कहानी सर्वत्र व्याप्त हो रही है। संसार में आदर्श-पुरुषों का अभाव नहीं है, अभाव है केवल हम लोगों को उन्नत दशा में प्राप्त होने की कामना का, महात्माओं के आचरण ग्रहण करने की शक्ति का और कुपथ से हटा कर सुपथ पर ले चलनेवाली बुद्धि का। सभी विषयों में प्राचीन श्रेष्ठ पुरुष का आदर्श लेकर ही चरित्र-गठन करना होगा सो नहीं, जो श्रेष्ठ है, जो सुन्दर है, जो सत्य है सो सब काल में, सब देशों में और सभी जातियों में श्रेष्ठ, सुन्दर और सत्य है। इसलिए हम लोगों को चाहिए कि देश, काल और पात्र का विचार कर के महानुभावों के आदर्श पर अपने अपने जीवन को गठित और परिचालित करें। इस प्रकार अपने को सुधार कर हम लोग बहुत शीघ्र उन्नति के ऊँचे शिखर पर पहुँच सकते हैं। जो लोग अभी

हम लोगें के घृणा की दृष्टि से देखते हैं वही हमें सच्चरित्र देख कर फिर हमारा सम्मान करने लगेंगे। गुण का पक्षपाती होना मनुष्य का स्वाभाविक धर्म है। भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशों में भिन्न भिन्न जाति के लोग रहते हैं। प्रत्येक प्रदेश की बोली, वेश-विन्यास, पहनावा, ओढ़ावा, आचार, व्यवहार भिन्न भिन्न हैं। सब अपने अपने प्रदेश की ही रीति को अधिक पसन्द करते हैं। इस कारण एक प्रदेश का रहनेवाला दूसरे प्रदेशवासी से विशेष सहानुभूति नहीं रखता। इस पारस्परिक विभिन्नभाव से देश की बहुत बड़ी हानि हो रही है। तुम किसी दूर देश में जाओ तो इसकी सत्यता प्रत्यक्ष विदित होगी। मान लो, अमेरिका की किसी सभा में कितने ही बंगाली, महाराष्ट्रीय, पंजाबी और नेपाली उपस्थित हैं उस समय यदि स्वदेश या जन्मभूमि का ज़िक्र निकल आवे तो भारतवर्ष के उन भिन्न भिन्न प्रदेश-वासियों की दृष्टि क्या एक साथ ही भारतवर्ष की ओर पतित न होगी? क्या भारतवर्ष की प्रशंसा से उन लोगें के हृदय उन्नत और निन्दा से मस्तक नीचे न झुकेंगे? अवश्य झुकेंगे। भारतवासी कहने से क्या उड़ीसावासी, क्या काश्मीरी, क्या महाराष्ट्रीय—सभी प्रदेश के लोगें का बोध होता है।

तुम अपने मन में ऐसा कभी न सोचो कि भारतवासी की प्रशंसा अथवा निन्दा से केवल वृद्धगणों और

समाज के प्रधान व्यक्तियों का ही सम्बन्ध है। तुम धनी हो, दरिद्र हो, विद्वान् हो, मूर्ख हो, चाहे किसी अवस्था में तुम क्यों न हो, इस बात को हमेशा याद रक्खो कि तुम लोग प्रत्येक प्रदेश और प्रत्येक समाज के अङ्ग हो। तुम लोग सभी भारत के सन्तान हो; भारत की उन्नति और अवनति दोनों तुम्हारे ही हाथ में हैं। बचपन में व्यायाम करने से जैसे शरीर सुन्दर, सुडौल और सुदृढ़ होता है वैसे ही चरित्र के गठन से मन उन्नत, सुशील, सत्यपरायण और साहसी होता है। चरित्र-बल पाकर ही तुम लोगों का हृदय बलिष्ठ होगा। जब तक तुम लोग इस बल को प्राप्त न करोगे तब तक अधिक विद्या और यथेष्ट धन संचय कर लेने पर भी अवनति के गढ़े में गिरे रहोगे।

पढ़ने की अवस्था में तुम लोगों में कितने ही ऐसे हैं जो अपने भविष्य जीवन का काल्पनिक चित्र खींच कर अनिश्चित सुख में मग्न हो जाते हैं और अपने अमूल्य वर्तमान समय की उपेक्षा कर बैठते हैं। हाय! जब वे अपनी भूल समझेंगे तब तो न मालूम उन्हें कितना पश्चात्ताप होगा। संभव है वे अनुतप्त होकर एकदम जीवन्मृत की तरह समय बितावेंगे। दुःख, लज्जा और क्षोभ से उन का मन बराबर व्यग्र ही होता रहेगा। उनके पहले की काल्पनिक आशा, उद्यम और उत्साह सभी एक साथ मिट्टी में मिल

जायँगे । अतएव हे युवकगण ! यदि तुम लोग पढ़ने के समय अपने भविष्य सुख के काल्पनिक चित्र की रचना न करके अपने चरित्र को सुधारो तो नैराश्य के बदले तुम्हारी आशा अवश्य फलवती होगी । काल्पनिक सुख के बदले सच्चे सुख पाओगे । जैसे कितने ही आदर्श-पुरुष अपनी सच्चरित्रता से संसार में अक्षय कीर्ति स्थापित करके अमर हो गये हैं । तुम लोग भी उनके मार्ग का अनुसरण करके वैसे ही चिरकाल के लिए यशस्वी हो जाओगे । क्योंकि सब उन्नतियों का मूल सच्चरित्रता ही है ।

चरित्र सुधारने के लिए किन किन सामग्रियों की आवश्यकता है वह इस पुस्तक के पढ़ने से तुम्हें मालूम हो जायगी । इस में नई बात एक भी नहीं है, तथापि आदि से अन्त तक पढ़जाने पर तुम समझ जाओगे कि इस पुस्तक में ऐसे अनेक विषय हैं, जिन्हें तुम पहले जिस प्रकार समझे हुए थे, उनसे उनका अर्थ विलक्षण है । जब तुम उन विषयों के यथार्थ भाव जान लोगे तब आप से आप तुम्हारी आँखें खुल जायँगी ।

सच्चरित्र पुरुष का संक्षिप्त लक्षण इतना ही है कि उसमें सत्यप्रियता, शिष्टाचार, विनय, परोपकारिता और चित्त की विशुद्धता, ये गुण पाये जायँ, शेष जितने गुण हैं वे सब इन्हीं गुणों के अन्तर्गत हैं ।

साधुता का धर्म सत्यप्रियता है।

जितना ही सत्यप्रियता का अभाव है उतना ही सुजनता का ह्रास है। सत्यप्रियता समाज के लिए एक ऐसा उत्तम बन्धन है कि जिससे समाज की बहुत सी बुराइयाँ दूर हो जाती हैं। सिर्फ़ झूठ न बोलने के भय से ही समाज का बहुत कुछ सुधार हो सकता है। किन्तु बहुत लोगों के मुँह से यह सुनने में आता है कि विना झूठ बोले काम नहीं चलता। पाठशालाओं में शिक्षकों के निकट सज़ा पाने के डर से विद्यार्थिगण, घर में माँ-बाप और अन्यान्य गुरु जनों से धिक्कारे जाने के भय से लड़के लड़कियाँ, मालिक के डर से नौकर और समाज की निन्दा और लोकलज्जा के भय से गाँव के रहने वाले झूठ बोलना अङ्गीकार करते हैं। अब यह सोचना चाहिए कि घर घर में व्याप्त होने वाले इस मिथ्या भाषण का मूल क्या है? इस का मूल डर है। डर जाने ही पर लोग झूठ का सहारा लेते हैं। भीरुता और कायरता के सिवा इस मिथ्याभाषण का और कारण क्या कहा जा सकता है। कई एक सामान्य गुणों के अभाव से यह भारी दोष उत्पन्न होता है। बिना विचारे जब कोई अनुचित कर्म्म कर बैठता है तब उसे भय होता है। वह सोचता है—दोष स्वीकार करने ही पर मैं दण्ड पाऊँगा, घर के लोग मुझ पर क्रोध करेंगे। अड़ोस पड़ोस के लोग मुझे घृणा की दृष्टि से

देखेंगे ; और भी मुझे कितने ही दुःख झेलने पड़ेंगे। ऐसी हालत में क्या करना चाहिए ? अपना दोष स्वीकार कर के दण्ड पाना उचित है अथवा झूठ के सहारे अपना दोष छिपा कर उद्धार पाना उचित है ? कोई तो उस अपराधी व्यक्ति को यह सलाह देगा कि अगर दो एक झूठ बात बोलने से सारा संकट मिट जाय तो झूठ बोलने में हर्ज ही क्या ? शुद्धचरित्र वाले कहेंगे कि अपराधी अपने दोष को छिपा कर एक बार किसी तरह बच सकता है किन्तु उसी घड़ी से उसके भविष्य की आशा, शुभसंकल्प सर्वदा के लिए लुप्त हो जाता है । अपने अपराध-जनित संकट से रक्षा पाने के लिए बार बार उसे झूठ बोलना पड़ता है। हृदय के उच्चभाव सभी एक एक कर निकल जाते हैं। अपना दोष स्वीकार कर लेने पर सत्यवादी को दण्ड ज़रूर होता है किन्तु सत्य के प्रभाव से उसका हृदय उस दण्ड की अपेक्षा अधिक उन्नत होता है । उसके मन से सारा भय भाग जाता है, उसे झूठ बोलने के लिए फिर कभी बाध्य होना नहीं पड़ता। किन्तु जो लोग मिथ्यावादी हैं वे हमेशा ही भयभीत रहते हैं, उनका हृदय उद्विग्न रहा करता है। उनके जी में आप ही आप ग्लानि होती रहती है। वे कौटिल्य धारण कर के नीच से भी नीच कर्म करने लग जाते हैं। बाहर से वे भले ही ऐश्वर्यशाली देख पड़ें पर भीतर से वे बराबर बेचैन रहा

करते हैं। जो लोग सत्यभाषी हैं, उनके मन में शान्ति, हृदय में साहस, बोली में स्पष्टता और दृष्टि में तेज भरा रहता है। सभ्य समाज में उनका आदर होता है। अच्छे गुणों की प्रतिष्ठा सभी समय सब देशों में होती है। सत्यभाषण एक वह प्रधान गुण है जिसके धारण से मनुष्यमात्र गौरवान्वित हो सकता है। जो असत्यसेवी हैं वे किसी काल में बड़ाई नहीं पा सकते।

जिन सब गुणों की ज्योति से संसार जगमगा रहा है उन गुणों को प्राप्त करने का अभिलाष किसे न होगा? उन सब गुणों को कोई एक ही साथ प्राप्त कर लेना चाहे यह कभी हो नहीं सकता। हाँ, एक एक गुण का अभ्यास कर के लोग गुणों से अपने को अलंकृत कर सकते हैं। अवगुण अनायास ही प्राप्त होता है किन्तु गुण विशेष साधन का फल है। यदि तुम गुणों का संग्रह करना चाहो तो उसका सुगम उपाय यही है कि सबसे पहले तुम सत्य का सहारा लो। दृढ़तापूर्वक प्रतिज्ञा करो कि "मैं झूठ कभी न बोलूँगा" बस, एक सत्य का आश्रय ग्रहण करने ही से और जितने गुण हैं वे आप से आप आकर तुम्हारा हाथ पकड़ेंगे।

एक बड़े विज्ञ महात्मा का कथन है—"ज्ञान ही शक्ति है।" ज्ञान का स्वरूप सत्य है, और अज्ञान का असत्य। इस सिद्धान्त से सत्य और शक्ति में कुछ भेद न रहा। जिसमें जितना

सत्य का भाग है वह उतना ही शक्तिमान् है। संसार में जितने अनिष्ट संघटित हुए हैं, हो रहे हैं और होंगे—इन का एक मात्र कारण सत्य की ह्रासता है। एक बार भारतवर्ष की ही बात सोचकर देखो। इस भारत में जब सत्य का सम्मान था, सबके आचार-विचार विशुद्ध थे, छल-कपट को लोग महापाप समझते थे तब भारत में शक्ति, समृद्धि और सुख था। ज्यों ज्यों सत्य का ह्रास होने लगा त्यों त्यों भारतवासी आर्यगण शक्तिहीन होने लगे। हाय! प्राचीन-भारत की सत्यप्रियता, स्वधर्मनिष्ठा, साधुता, धीरता और वीरता के साथ वर्तमान भारत की असत्यपरता, दुराचार, अशिष्टता, अधीरता और भीरुता की तुलना करते हैं तो हृदय विदीर्ण हो जाता है और लज्जा से सिर नीचे झुक जाता है। किन्तु तुम लोग यदि अब भी सत्यव्रत धारण करके अपने चरित्र को सुधारोगे तो थोड़े ही दिनों में वर्तमान भारत के समस्त कलङ्कों को मिटा डालोगे। कितने ही विदेशियों ने जो हम लोगों को बहुत बहुत गालियाँ दी हैं और कितने ही विदेशी जो हम लोगों की मूर्खता पर अब भी हँसते हैं और हम लोगों को घृणा की दृष्टि से देखते हैं वे लोग भी क्षमा-भाव धारण करेंगे और तुम लोगों के महत्त्व का परिचय पाकर बार बार तुम्हारी प्रशंसा करेंगे। अतएव सर्वदा सत्य-पालन करने का दृढ़ संकल्प करो, संकट के समय में भी

सत्य का त्याग न करो, और अपने दोष छिपाने के लिए कभी असत्य को अपने पास न फटकने दो। मुक्त कण्ठ से अपना दोष स्वीकार करो, पर भीरुता का धारण स्वप्न में भी न करो।

अपना दोष स्वीकार करना महत्त्व का लक्षण है।

जिन्हें मानसिक बल नहीं है वे ही अपना दोष स्वीकार करने में थरथराते हैं; वे यह नहीं सोचते कि अपराध स्वीकार करना हृदय की दुर्बलता न होकर हृदय का महत्त्व है। अपना दोष प्रकट कर देने ही से मनुष्य निर्दोष होता है, उसके मन में शान्ति प्राप्त होती है, चरित्र निर्मल होता है और अपयश के बदले सुयश प्राप्त होता है। अनुचित कर्म करके दोष स्वीकार करना साधुओं का काम है, जो लोग दोष छिपाते हैं उन्हें चोर समझना चाहिए। जो अपना दोष जितना ही छिपाने की चेष्टा करता है उतना ही वह अपने को और दोषी बनाता है। अपने दोषों को छिपा कर कोई साधु नहीं कहला सकता, साधु तभी कहला सकता है जब वह साफ़ साफ़ अपना दोष प्रकट करदे और अपने किये हुए दोषों पर पश्चात्ताप करे।

दोष छिपाने के लिए झूठ बोलना, एक दोष के रहते दूसरा दोष करने के बराबर है। दोष से दोष का उद्धार कभी नहीं हो सकता। कीचड़ से कोई कीचड़ का दाग़ साफ़ नहीं कर सकता। आग से कोई आग को नहीं बुझा सकता। जैसे आग बुझाने के लिए पानी आवश्यक है। वैसे ही दोष दूर करने के लिए सत्य की आवश्यकता है। इसे भली भाँति याद रक्खो कि एक झूठ के छिपाने के लिए दूसरे झूठ की ज़रूरत पड़ती है अर्थात् जहाँ मुँह से एक बात झूठ निकली, तहाँ दूसरा झूठ आप से आप आ खड़ा होता है। एक झूठ के लिए न मालूम कितने झूठ बोलने पड़ते हैं, इससे उत्तरोत्तर दोषों की ही वृद्धि होती है। जिनका चरित्र बिगड़ा है, जो हृदय के दुर्बल हैं, वे अपने दोष छिपाने की बहुत कोशिशें करते हैं। आज कल ऐसे ही लोगों की संख्या अधिक है जो अहङ्कार में फूले रहते हैं। व्यसनों को ही अपना कर्तव्य समझते हैं और पढ़ लिख कर भी मूर्खता का काम करते हैं। कितने ही बुद्धिहीन तो जगह-ज़मीन के लिए, प्रभुता पाने के लिए, क्षणिक सुख भोग के लिए और भी अनेक छोटे छोटे लाभों के लिए अपने अमूल्य चरित्र को कलङ्कित कर बैठते हैं।

कितने ही लोग अपने दुश्चरित्रजनित दोषों को छिपाने के हेतु बहुत द्रव्य ख़र्च करके और विविध प्रकार के बाह्याडम्बर

करके सुयश प्राप्त करने की चेष्टा करते हैं और समय समय पर कृतकार्य भी होते हैं। किन्तु सत्य सत्य ही है, असत्य की कभी वृद्धि नहीं होती, इस नियम से उनका नाम और यश थोड़े ही दिनों में लुप्त हो जाता है। जिनका आचरण अच्छा है वे बाह्याडम्बर कुछ न करके भी सभ्य-समाज में सम्मानित होते हैं और जन साधारण में भी सर्वत्र उनका आदर होता है। जिनका आचरण अच्छा नहीं, वे यश के लोभ से अनेक अच्छे कामों को करके भी अपने दुश्चरित्र का कलङ्क दूर नहीं कर सकते। उनके विषय में सब लोग यही कहा करते हैं कि "वे कितने ही अच्छे अच्छे काम कर गये हैं सही, किन्तु उनका जीवन पवित्रता से रहित था।" ऐसे लोग जन-समाज में धन्यवाद और कृतज्ञता के पात्र हो सकते हैं किन्तु उन पर लोगों की श्रद्धा वा भक्ति उत्पन्न नहीं होती। हृदय से कोई उन पर प्रेम प्रकट नहीं करता। सुयश का काम करके भी लोगों की दृष्टि में अश्रद्धेय, अप्रीतिभाजन और अपूज्य होने का दुराचार ही एक मात्र प्रधान कारण है। अच्छे आचरण का प्रभाव इतना प्रबल है कि एक सच्चरित्र पुरुष की देखादेखी समस्त जाति की उन्नति हो सकती है। ऐसे ही एक दुश्चरित्र के संसर्ग से सारा गाँव बिगड़ जा सकता है। सिद्धान्त यह कि दुराचारी का सम्पर्क, संक्रामक (औपसर्गिक) रोग की तरह, सर्वथा त्याज्य है।

सत्य से विचलित न होना जैसे साधुओं का धर्म है वैसे ही अपने दोष का स्वीकार कर लेना सच्चरित्र पुरुषों का प्रधान लक्षण है। स्वर्गीय महात्मा गोविन्द मोहनराय विद्याविनोद इस विषय में हम लोगों के आदर्शस्वरूप हो गये हैं। इन्होंने अपनी बाल्यावस्था में ही अपनी तेजस्विता, सत्यप्रियता और अपने महत्त्व का जो कुछ परिचय दिया है वह सभी के लिए अनुकरणीय है। बाल्यकाल में एक बार महात्मा गोविन्द मोहन नाव पर आरूढ़ होकर रङ्गपुर जा रहे थे। लोगों का कथन है कि उन्हें विद्याशिक्षा के लिए उनके पिता के पास आत्मीयगण लिये जा रहे थे। तब रेल न थी। जल-मार्ग से ही लोग दूर दूर की यात्रा करते थे। इन दिनों जो रास्ता रेलगाड़ी में बैठ कर लोग कई घंटों में तय करते हैं उन दिनों उस रास्ते के तय करने में कई दिन लग जाते थे। नाव के यात्रिगणों को तो रसोई आदि बनाने और खाने पीने आदि के सभी काम नाव पर ही करने होते हैं। रङ्गपुर के इन नौकारूढ़ यात्रियों ने रास्ते में कहीं मछुओं से यथेष्ट मछलियाँ मोल लीं। उनमें एक बड़ी मछली जीवित थी। घर में जिस प्रकार लोगों को मनमाना सुस्वादु भोजन मिलता है, दूरवर्ती नदी के पथ में उस प्रकार मिलना कब संभव है? यद्यपि नाव की सवारी बड़े आराम की होती है तथापि समय अधिक लगने के कारण लोगों का

जी ऊब जाता है और कई बातों की असुविधा भी होती है। ऐसे अवसर में यदि जल-यात्रियों को कोई अभिलषित वस्तु मिल जाय तो फिर उनके आनन्द की सीमा नहीं रहती। उन यात्रियों ने जबसे घर छोड़ा तबसे ऐसी बढ़िया मछली उन्हें कभी नहीं मिली थी। यकायक ऐसी अच्छी मछली मिल जाने से वे लोग बड़े ही प्रसन्न हुए। बालक गोविन्दमोहन को तो उस समय मारे ख़ुशी के उछल-कूद करना चाहिए था किन्तु उनके मुँह पर प्रसन्नता का चिह्नमात्र भी दिखाई न दिया। सभी लोग आनन्द में उमँग रहे थे। केवल वह बालक सोच में पड़ा था। उसके मन में यही चिन्ता हो रही थी, यही सोच सोच कर वह व्याकुल हो रहा था कि अपनी उदरपूर्ति के लिए लोग इतनी बड़ी मछली को मार डालेंगे। बालक ने सोचा—"मैं अपने हाथ से तो इसे मारूँगा नहीं और न पकाये जाने पर इसका स्पर्श ही करूँगा। किन्तु मेरे सामने लोग इसे मार कर टुकड़े टुकड़े कर डालेंगे यह मैं कैसे देख सकूँगा।" जब लोग उस जीवित मत्स्य को यह समझ कर कि कहीं भग न जाय, निरापद स्थान में रख कर किसी दूसरे काम को चले गये तब उस बालक ने मछली को नदी के अगाध जल में छोड़ दिया।

गोविन्दमोहन इस बात को भली भाँति जानते थे कि यह मछली ही उस दिन सब के आनन्द का कारण हो रही

थी और उसे पानी में छोड़ देने से वह सबका क्रोध-भाजन बनेंगे तथापि मछली की प्राणरक्षा करने में उन्होंने ज़रा भी आगा-पीछा न किया।

जब उनके बड़े भाई और साथ के लोगों ने मछली की तलाश की और मछली न मिली तब वे लोग अधीर हो उठे। बालक गोविन्दमोहन ने भर्त्सना का कुछ भय न करके साफ़ साफ़ उन लोगों से कह दिया कि "मैंने ही मछली को पानी में भगा दिया है।"

जिन्हें इन दयालु पुरुष का जीवन-वृत्तान्त जानने की अभिलाषा हो वे १३०४ साल की नव्यभारत-पत्रिका पढ़ें।

वीरेश्वर मुखोपाध्याय की उदारता

सन् १८८८ ई० के ग्रीष्मकाल में बसीर मुहम्मदख़ाँ नाम का एक काबुली सौदागर बङ्गदेश से अफ़ग़ानिस्तान लौटते वक्त, पञ्जाब के बन्नू शहर में दो चार दिन के लिए ठहर गया। शहर के प्रान्त में एक बड़ा बाग़ था। वह उसी में ठहरा। जब वहाँ से वह अपने देश को जाने लगा तब जल्दी में उसकी रुपये की थैली वहीं छुट गई। उस थैली में पाँच हज़ार रुपया था। जब कुछ दूर आगे बढ़ा तब वह अपने पास रुपये की थैली न देखकर उस बाग़ की तरफ़

दौड़ चला। रास्ते में उसे एक तेरह चौदह वर्ष का बंगाली बालक मिला। उस बालक ने उसे घबराया हुआ सा देखकर पूछा—"क्या आप की कोई चीज़ खो गई है?" सौदागर ने कहा—"मेरी रुपये की थैली खो गई है।" बालक ने तुरन्त थैली दिखलाकर कहा—"यह आप की है? लीजिए।"

काबुली ने थैली के रुपए बालक को दिखलाकर पूछा—"तुम्हारे मन में इन रुपयों का लालच क्यों न हुआ?" बङ्गाली बालक ने कहा—"मैंने बचपन से यही शिक्षा पाई है कि दूसरे के द्रव्य को मिट्टी के बराबर समझना चाहिए।"

लड़के की यह बात सुनकर काबुली को बड़ाही आनन्द हुआ।

उसने अपने मन में कहा—"ऐसा पुत्र-रत्न पाकर न मालूम इसके माँ बाप को कितना हर्ष होता होगा।" आख़िर सौदागर ने उसके इस महोपकार के बदले पुरस्कारस्वरूप पाँच रुपया उसे देना चाहा, लड़के ने कहा—"मैंने आपका ऐसा कौनसा उपकार किया है जिसके बदले में आपसे मैं यह रुपया लूँ। आपका रुपया आपको दे दिया, यह तो मैंने अपने कर्तव्य का ही पालन किया है।"

उक्त काबुली ने इस वृत्तान्त को अँगरेज़ी के एक समाचार-पत्र में प्रकाशित कर दिया। उसने अपने लेख के अन्त में लिखा है कि—"वह रुपया मेरा न था, मेरे मालिक का था। यदि

वह लड़का रुपया छिपा रखता तो मुझे कैद में जाना पड़ता और मुझसे लोगों का विश्वास उठ जाता। लड़के ने जो मेरा उपकार किया है शब्दों में उसका वर्णन नहीं हो सकता। उसके निकट मैं अपनी कृतज्ञता किस तरह प्रकट कर सकूँगा, यह मैं नहीं जानता। उसके सौजन्य की प्रशंसा जितनी की जाय थोड़ी है। मैं अपने इस परमोपकारी बालक को इस ज़िन्दगी में कभी न भूलूँगा। उसके दीर्घजीवन और सुख-सम्पत्ति के लिए मैं सर्वदा ईश्वर से प्रार्थना किया करूँगा। मैं उस बालक को हृदय से यही आशीर्वाद देता हूँ कि वह सर्वदा सुखी रहे, कभी वह किसी तरह का कष्ट न पावे और हर एक काम में कामयाबी हासिल करे।" लड़के का नाम वीरेश्वर मुखोपाध्याय है। बन्नू ज़िला स्कूल के एन्ट्रेन्स क्लास में पढ़ता है। (वामाबोधिनी-पत्रिका)

नैतिकबल के अभाव का ही नाम भीरुता या कायरता है। स्कूलों में ऐसे लड़कों की संख्या कितनी होगी जो अपराध करके स्वीकार करते हों? ऐसे विद्यार्थी कितने होंगे जो दण्ड पाने की बात जानकर भी अपने अपराध को प्रकट करने का साहस रखते हों? यदि तुम्हारे मन से भीरुता दूर न हुई तो तुमने बड़े बड़े ग्रन्थों को पढ़कर ही क्या किया। जब तक तुम भीरु बने रहोगे तब तक मैं यही कहूँगा कि विद्या का फल तुम्हें प्राप्त नहीं हुआ। जब तुम अच्छे मार्ग से चलोगे तब तुम्हारी

जितनी भीरुता, जड़ता और मलिनता है वह इस तरह दूर हो जायगी जैसे सूर्य के उदय से अन्धकार दूर हो जाता है ।

इस समय जो मिथ्या भाषण और जातीय भीरुत्व घर घर आदर पा रहे हैं और जिन कारणों से प्राचीन भारत इन दिनों लज्जा और ग्लानि से एक दम तेजहीन हो पड़ा है, इस का कारण भी नीतिवल का अभाव ही समझना चाहिए ।

रामायण, महाभारत और राजस्थान आदि ग्रन्थों से दृष्टान्त दिखलाकर अथवा हम लोगों के प्रातःस्मरणीय ईश्वर-चन्द्र विद्यासागर और राममोहन प्रभृति महानुभावों का पवित्र नामोल्लेख करके ही अपने को धन्य मानने से काम न चलेगा । यदि महात्माओं के चरित्र का अनुकरण न करोगे, यदि उनके उपदेशानुसार काम न करोगे, तो सैकड़ों रामायण, हज़ारों महाभारत और लाखों राजस्थान के रहते भी इस दीन हीन भारत का कलङ्क न मिटेगा । तुम्हारे ग्रन्थों से संसार उतना परिचित न होगा जितना तुम्हारे एक साधारण से साधारण अच्छा काम करने से । सुपथ का अवलम्बन कर के अच्छे कामों को कर दिखाना ही तुम्हारा कर्तव्य है । सुपथ ढूँढ़ने के लिए तुम्हें कहीं जाना न पड़ेगा । महात्माओं का सर्व-व्यापी सुयश और उनका पवित्र जीवन-चरित ही सुपथ का दिखलाने वाला है । बालक गोविन्दमोहन ने अपना दोष स्वीकार करके जैसा कुछ बड़प्पन दिखलाया है, बालक वीरेश्वर

मुखोपाध्याय ने पाँच हज़ार रुपयों को मिट्टी के बराबर समझ कर अपनी निर्लोभता, सत्यवादिता, साधुता, और कर्तव्य-बुद्धि का जैसा कुछ परिचय दिया है, इच्छा करने से तुम लोग भी अनायास वैसे वैसे कामों के द्वारा सुयश प्राप्त कर सकते हो, विश्वासपात्र बन सकते हो और अपनी उन्नति करते हुए संसार का भी बहुत कुछ उपकार कर सकते हो ।

मनुष्यता

मनुष्य हो कर भी मनुष्यता का ज्ञान होना कठिन है । धन-उपार्जन करके कुटुम्बपालन करने से अथवा अधिक धन सम्पत्ति का स्वामी होकर आमोदप्रमोद के साथ जीवन-निर्वाह करने ही से कोई मनुष्य नहीं कहला सकता । न अनेक शास्त्र पढ़कर ही कोई मनुष्य होने का दावा कर सकता है । मनुष्य का लक्षण केवल धनवान् वा विद्वान् होना ही नहीं है । यदि ऐसा ही होता तो समय समय पर कितने ही धन-कुबेर को और कितने ही शास्त्रज्ञ विद्या-विशारदों को लोग पशु कह कर क्यों तिरस्कार करते ? "लिखने-पढ़ने से क्या होगा, उनमें मनुष्यता का बिलकुल अभाव है ।" इस प्रकार का वाक्य-प्रयोग कभी कभी लोगों के मुँह से सुना जाता है । इससे समझ लो कि धनसम्पत्ति और विद्या के

साथ मनुष्यता का सम्बन्ध नाममात्र का है। मनुष्यता एक और ही पदार्थ है। आत्मा के साथ इस का घनिष्ठ सम्बन्ध है। जिन्हें आत्मबल है उन्हीं को मनुष्यता प्राप्त होती है। आत्मसंयम और आत्मत्याग ये ही दो मनुष्यता के लिए प्रधान गुण हैं। चित्त और इन्द्रियों को अपने वश में रखने ही का नाम आत्मसंयम है। परोपकार के लिए सुख दुःख की कुछ परवा न करना ही आत्म-विसर्जन है। काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य ये जो छः आत्मा के शत्रु हैं केवल इन्हीं को दबाने का नाम आत्मसंयम नहीं है, बल्कि इन शत्रुओं के साथ ही साथ पञ्चेन्द्रिय का निग्रह करना आत्मसंयम का लक्षण है। ज्ञानेन्द्रियों में सबसे प्रबल जिह्वा है; इसलिए सबसे बढ़ कर जिह्वा का शासन करना आवश्यक है।

क्रोधादि शत्रुओं के शासन से इन्द्रियों का भी शासन कुछ हो ही जाता है; किन्तु अभ्यास के दोष से कभी कभी ऐसा हो जाता है कि जिस समय तुम्हारे मन में न क्रोध है न हिंसावृत्ति की ही प्रवृत्ति है, उस समय में भी तुम किसी व्यक्ति के सरल प्रश्न का कठोर उत्तर दे डालते हो अथवा हँसी में कोई मर्मच्छेदी बात बोल देते हो। चाहे इस प्रकार कठोर बातें बोलकर दूसरों के जी दुखाने का तुम्हारा अभि-प्राय न हो पर बोलने से तुम कब बाज़ आते हो। इस का कारण यही है कि तुम्हारी जिह्वा अभ्यास की वशवर्तिनी

हो रही है। वह अनायास अपना काम कर लेती है और तुम्हें कुछ हिताहित का बोध तक नहीं होने देती। इस लिए जी का रोकना बड़ा ही कठिन है। जब तक तुम शरीर और मन को बिगाड़नेवाले बुरे अभ्यासों को दूर करने में समर्थ न होगे तब तक तुम अपनी उन्नति करने में असमर्थ ही बने रहोगे। विद्यार्थियों में कितने ही ऐसे निकलेंगे जो अपनी बुरी लत के दुष्परिणाम को जानकर भी उससे विरत नहीं होते। विरत न होने का कारण चिरकाल का अभ्यास ही है। उस अभ्यास को जीतने के लिए उन्हें वीरत्व धारण करना चाहिए। यदि तुम अपने अभ्यास पर विजय प्राप्त करोगे तो पीछे तुम्हें वैसा ही आनन्द प्राप्त होगा जैसे शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने से होता है। जब तुम अपने शरीरस्थ शत्रु को जीतोगे तब तुम्हें वह शक्ति प्राप्त होगी जिससे संसार को भी जीत सकोगे।

मान लो, किसी विषय की आलोचना हो रही है। उसके विचारार्थ तुमको किसी ने मध्यस्थ नहीं बनाया है। शायद तुम्हारी अवस्था या तुम्हारी बुद्धि उस विचार के उपयुक्त नहीं है। तथापि तुम अपने चञ्चल स्वभाव के कारण अपना मतामत प्रकाश करने लगे। यह आदत भी बहुत बुरी है। विना अधिकार पाये किसी विषय में हस्तक्षेप करना भारी भूल है। अध्यापक दत्तचित्त हो कर तुम्हें किसी मानचित्र

(नक़्शे) में विशेष विशेष स्थान दिखला रहा है, तुम उनकी उँगली की ओर दृष्टि करके मनही मन गतरात्रि की चाँदनी में उपवन की अपूर्व सौन्दर्य की भावना कर रहे हो। तुम्हारी मानसिक दृष्टि उस उपवन की शोभा की ओर खिंची है। किन्तु तुम्हें यह याद रखना चाहिए कि बिना मनोयोग दिये किसी बात की धारणा नहीं होती। उस प्राकृतिक शोभा का माधुर्य कैसा ही क्यों न हो, इन दोनों आँखों को वह जिस तरफ़ चाहे भलेही खींच ले जाय, पर मानचित्र के स्थानावलोकन के समय तुमको उचित है कि मानसिक दृष्टि को अन्यत्र न जाने दे कर अपने इन दोनों नयनों के साथ उसे शिक्षक के बताये स्थान में दृढ़ता से रोक रक्खो। बाह्य और आभ्यन्तरिक दोनों नेत्रों को अपने वश में कर लेना चाहिए। इस प्रकार अपने इन्द्रियों को और काम क्रोधादि शत्रुओं को दबाने की चेष्टा करते रहना चाहिए। यदि चित्तवृत्ति को तुमने अपने वश में कर लिया तो मानो तुमने आधी मनुष्यता प्राप्त करली। मनुष्यत्व का प्रधान स्थान हृदय है और आचार-व्यवहार से ही हृदय का परिचय होता है। लोग अच्छे व्यवहार से मनुष्य और बुरे व्यवहार से पशुओं के तुल्य गिने जाते हैं। तुम यदि उदार, परोपकारी, विनयी, शिष्ट, आचारवान् और कर्तव्य-परायण होगे तो संसार के सभी लोग तुम्हें मनुष्य कहेंगे और तब तुम भी समझोगे कि मनुष्यता किसे कहते हैं।

साधना

दोहा

मणि मुक्ता चाहूँ नहीं , नहीं राज सम्मान ।
मैं चाहूँ सच्चरित-युत, जीवन शुद्ध महान ॥१॥
कायर बनूँ अधर्म ढिग , अरु सुधर्म ढिग वीर ।
सम्पति में विनयी बनूँ , विपति समय में धीर ॥२॥
बालक सम मेरी रहै , निर्मल मति गति नित्य ।
छल प्रपञ्च तजि सत्ययुत , करौं सदा शुभ कृत्य ॥३॥
इन्द्रिय गन अरु मन रहै , नित मेरे बश माहिँ ।
काम क्रोध मद मोह के , होउँ कबहुँ वश नाहिँ ॥४॥
ऐसी देहु उदारता , करि करुणा प्रभु मोहि ।
सब को देखूँ एक सम , कबहुँ न भूलैं तोहि ॥५॥

दूसरा परिच्छेद

अन्यस्माद्यादृशं स्वस्मै व्यवहारमपेक्षसे ।
अन्यस्मै तादृशं कर्त्तुमुत्सहस्व त्वमप्यहो ॥ १ ॥
क्षमन्ते शतशो दोषान् सदयस्य यथा हरिः ।
तथा शिष्टकृतान् दोषान् सहन्ते सकला जनाः ॥ २ ॥
दुर्जनः परिहर्तव्यो विद्ययालङ्कृतोऽपि सः ।
मणिना भूषितः सर्पः किमसौ न भयङ्करः ? ॥ ३ ॥
धीराणां भूषणं विद्या मन्त्रिणां भूषणं नृपः ।
भूषणं च पतिः स्त्रीणां शीलं सर्वस्य भूषणम् ॥ ४ ॥
शीलावलम्बनमहर्निशमिष्टचिन्ता-
वित्तानुरूपमशनाभरणादिकार्यम् ।
वार्यं च दुर्जनसमाजनिजप्रशंसा-
हास्यादि सज्जनवचो हृदये निधेयम् ॥ ५ ॥

भावार्थ—अपने लिए जैसा व्यवहार पसन्द करो दूसरों के लिए भी वैसा ही चाहो ॥ १ ॥

ईश्वर जैसे दयालुओं का अपराध सहन करता है, वैसे ही साधु पुरुषों का दोष सभी लोग सह लेते हैं ॥ २ ॥

दुर्जन विद्वान भी हो तो वह त्याज्य है। मणि से भूषित साँप क्या भयङ्कर नहीं होता ? ॥ ३ । ४ ॥

सुशीलता, उच्चाभिलाष, अपने विभव के अनुसार भोजन, वस्त्र और भूषण का व्यवहार, दुर्जनों की संगति, अपनी प्रशंसा, और पराये की निन्दा से विरत रहना, सज्जनों के वचन का आदर करना, ये सब सुजनता के लक्षण हैं ॥ ५ ॥

शिष्टाचार

बहुत लोगों का ख़याल ऐसा ही है कि अदब-क़ायदे से चलने ही का नाम शिष्टाचार या सुजनता है। कितने ही लोग कर्णसुखद मधुर वाक्यों से और बनावटी व्यवहारों से लोगों का सत्कार कर के सुजनता प्रकाश करना चाहते हैं। किन्तु इसे वास्तविक सुजनता नहीं कह सकते। लोगों में जो आगत-स्वागत करने का व्यवहार प्रचलित है, उसी को शिष्टाचार मान लेना ठीक नहीं। यद्यपि अदब, लिहाज़, ख़ातिर, नम्रता, श्रद्धा, भक्ति और मधुरभाषण आदि शिष्टाचार के अन्तर्गत हैं तथापि इनमें किसी एक को शिष्टाचार समझ लेना भूल है। शिष्टाचार या सौजन्य में अनेक महत्त्व भरे हैं। शिष्टाचार का अर्थ है साधु का आचरण। जो साधु का सा व्यवहार करेगा वही शिष्टाचारी कहला सकेगा।

शिष्टाचार के साथ विद्या का कोई घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि कितने ही अनपढ़ लोग भी शिष्टाचारी होते देखे गये हैं। जो विद्वान् दुर्जन हैं वे सभा-समाज में निन्द्य समझे जाते हैं। किन्तु जो मूर्ख होकर भी सुजन है वह समाज में आदरणीय समझा जाता है। सबसे प्रथम लोगों का स्वभाव ही देखा जाता है। स्वभाव की उत्तमता और नीचता ही पर लोगों का महत्त्व और नीचत्व निर्भर है।

विद्या की परीक्षा सब काल में नहीं होती, किन्तु स्वभाव सभी काल में परखा जाता है। संसार में केवल विद्या पढ़ने ही से कोई शिष्ट या सुजन नहीं बन सकता। विद्या पढ़ कर भी शिष्टाचार के द्वारा ही सुशील और सत्पात्र बन कर कोई, लोगों का श्रद्धास्पद हो सकता है। विद्यार्थी सुशील होने पर शिक्षकों का प्यारा होता है, सन्तान सुशील होने पर माँ-बाप और गुरुजनों के प्यारे होते हैं। ग्रामवासी लोगों की शिष्टता से गाँव स्वर्गतुल्य हो जाता है। देशवासियों की साधुता विदेशियों की श्रद्धा और प्रीति प्राप्त करती है। सुशील शिक्षकों पर विद्यार्थियों की भक्ति और श्रद्धा बढ़ती है। मालिक यदि अपने नौकरों के साथ अच्छा बर्ताव करे तो नौकर उसके हृदय से बाध्य और भक्त होते हैं। इस प्रकार परस्पर अच्छा व्यवहार करने से लोग बड़े आनन्द के साथ समय बिता सकते हैं।

एक दिन महाराज रामसिंह अपने साथियों को लेकर आखेट करने जंगल को गये। पहाड़ की तराई के वन में हिरन, भालू और बाघ आदि पशु ढूँढ़े जाने लगे। किन्तु बहुत तलाश करने पर भी वे जंगली जानवर कहीं दिखाई न दिये। आख़िर महाराज ने एक बनैले सुअर के पीछे अपना घोड़ा दौड़ाया। वह इतनी तेज़ी से भागा कि महाराज का घोड़ा और उनके शिकारी कुत्ते उसके पास तक न पहुँच सके।

महाराज उसके पीछे बहुत दूर निकल गये। महाराज के साथी लोगों ने उनको खोजते हुए एक घने जंगल में प्रवेश किया। महाराज उस जंगल से बहुत दूर आ पड़े। साथ में कोई नहीं था। प्यास के मारे उनका कण्ठ सूखने लगा। घोड़ा पसीने से तर हो गया। सूर्य की प्रखर किरणों से उत्तप्त होकर राजपुताने की मरुभूमि मानो आग बरसाने लगी। वालुकामयी पृथ्वी मानो आग की ज्वाला से लिपट गई। ऐसे समय में महाराज घूमते फिरते एक छोटे से पहाड़ की तलहटी में एक झोंपड़ी के पास आ पहुँचे। झोंपड़ी में एक अत्यन्त वृद्धा स्त्री के सिवा और कोई न था। उस वृद्धा की अवस्था देख कर यही जान पड़ता था कि वह अब कुछ दिन में ही संसार से चल बसेगी। महाराज कड़ी धूप में चलकर बहुत व्याकुल हो गये थे। उन्होंने अधीर होकर बड़े ही विनीत भाव से उस वृद्धा से थोड़ा सा ठंडा जल मांगा। वहाँ पास ही एक बहुत बड़ा पहाड़ था, जिसमें दो झरने ऐसे थे जिनसे बराबर पानी गिरा करता था। महाराज को झरने की बात मालूम न थी। वृद्धा प्रति दिन सवेरे झरने का जल लाकर अपनी कुटी में रख देती थी। वृद्धा ने तुरंत एक मिट्टी के बर्तन में ठंडा जल लाकर जयपुर के अधीश महाराज रामसिंह के सामने रख दिया। वृद्धा को क्या मालूम कि ये जयपुर के महाराज हैं। रामसिंह

ने शीतल जल पान करके हृदय को ठंडा किया। उनकी प्यास और थकावट दूर हुई। मनही मन उन्होंने वृद्धा को बहुत धन्यवाद दिया। जब राजा का चित्त स्वस्थ हुआ तब उन्होंने वृद्धा को अपने पास बैठा कर पूछा—"तुम्हारा निर्वाह कैसे होता है, और तुम्हारे परिवार के लोगों में अब कौन कौन हैं, और कहाँ रहते हैं?"

वृद्धा बोली—"सिपाहीजी, मेरे तो और कोई नहीं है सिर्फ़ एक पुत्र है किन्तु वह नालायक़ बेटा भी प्रायः बारह वर्ष से इस बूढ़ी दरिद्रा माँ को छोड़ कर न मालूम कहाँ चला गया। किसी किसी के मुँह से सुना है कि जयपुर के महाराज रामसिंह के पहाड़ी क़िले में मेरा लड़का कुछ काम करता है। मेरे भरणपोषण का कोई उपाय नहीं है। पथिक लोग यहाँ आकर पानी पीते हैं और मुझे कुछ देना चाहते हैं; किन्तु पानी पिला कर मैं किसी से कुछ नहीं लेती, क्योंकि मैं यह जानती हूँ कि प्यासे को पानी पिला कर और भूखे को कुछ खिला कर उसके बदले में कुछ लेना भारी पाप है। जंगल की लकड़ी, मृगछाला, पहाड़ी चिड़िया, और काष्ठौषधि इत्यादि बिक्री करके किसी तरह मैं पेट भर लेती हूँ। किन्तु अब अत्यन्त वृद्धा होने के कारण मुझ से परिश्रम करते नहीं बनता, तथापि लाचारी करना ही पड़ता है। बुढ़ापे में इस तरह की लाचारी से

बड़ा ही कष्ट होता है। मैं अपने जीवन का शेष समय बड़े ही दुःख से बिता रही हूँ। इस अवस्था में लड़के की जुदाई तो मुझे एक प्रकार से मारे ही डालती है।" यह कह कर वह रोने लगी। राजा रामसिंह ने अपने बहुमूल्य रूमाल से उसकी आँखों के आँसू पोंछे। वृद्धा वेचारी क्या जानती कि जिस के साथ वह बात कर रही है वही जयपुर के महाराज रामसिंह बहादुर हैं। वह उन्हें सिपाही जान कर फिर कहने लगी—"सिपाहीजी, सुना है, महाराज रामसिंह बड़े दयालु हैं? और उनकी रानी भी ख़ूब लिखी पढ़ी है?

राजा ने कहा—"मैं एक दिन तुम्हें राजा से मुलाक़ात करा दूँगा।"

वृद्धा—"वेटा, तुम पागल तो नहीं हुए हो? राजा का दर्शन क्या सबको नसीब होता है। बड़े आदमियों को तो राजा से जल्दी मुलाक़ात होती ही नहीं; मैं किस गिनती में हूँ। बड़े पुण्य से राजा का दर्शन होता है। अगर तुम महाराज के सामने मुझे ले भी जाओगे तो मैं उन्हें नज़राना क्या दूँगी? मैं सोने का सिक्का कहाँ पाऊँगी जो उनके नज़र करूँगी? पहरेदार मुझ से नाराज़ होकर अपनी तलवार से मेरी धज्जियाँ उड़ा देंगे, राजदर्शन तो दूर की बात है।"

राजा उसकी बात का कुछ जवाब न देकर उसकी झोपड़ी में चटाई पर लेट गये। थके तो थे ही, लेटने के साथ उन्हें नींद आ गई। दिन के पिछले पहर जब सोकर उठे तब वे घोड़े पर सवार होकर जयपुर की तरफ़ चल पड़े।

दूसरे दिन सवेरे ही महाराज ने उस वृद्धा के पुत्र की खोज की। जब वह महाराज के सामने हाज़िर किया गया, तब राजा ने उसे ख़ूब डाटा और उसने जो अपनी माँ को त्याग दिया था उसकी इस असाधुता पर उसे बड़ा ही धिक्कारा। और पहरेदार को कहार पालकी अपने साथ ले जाकर उस वृद्धा को ले आने का हुक्म दिया।

वृद्धा आ पहुँची। राजा की आज्ञा के अनुसार सिपाही लोग उसे महल में ले गये। वृद्धा किसी तरह राजा के सामने जाना नहीं चाहती थी। वह डर से काँपने लगी। जब महाराज ख़ुद उसके सामने आकर खड़े हुए तब तो उन्हें पहचान कर वृद्धा समझ गई कि मेरी झोपड़ी में जो पानी पीने आये थे वे सिपाही नहीं महाराज ही थे। वृद्धा ने हाथ जोड़ कर उनसे क्षमा माँगी। राजा ने उसे अभयदान देकर सन्तुष्ट किया और उसे माँ कह कर पुकारा। तब उस वृद्धा का डर दूर हुआ। महाराज रामसिंह ने उसकी जीवन-यात्रा के लिए पचास रुपया मासिक वृत्ति नियत कर दी और उसके बेटे को सेना-विभाग के एक ऊँचे पद पर नियुक्त करने का हुक्म

दिया। इस प्रकार माता और पुत्र दोनों मिल कर महाराज की कृपा से सुखी हुए। एक सप्ताह के बाद वृद्धा फिर अपनी उसी पुरानी झोपड़ी में चली गई।"

(वामा-बोधिनी पत्रिका)

महाराज ने जो इस बेचारी बूढ़ी दरिद्रिणी के साथ ऐसा अच्छा व्यवहार किया उससे क्या उनकी प्रतिष्ठा में कुछ हानि हुई? अथवा उनका महत्त्व घट गया? बल्कि इस प्रकार के शिष्टाचार से उनका महत्त्व और भी अधिक बढ़ गया। वे प्रजाओं के विशेष श्रद्धास्पद और प्रीतिपात्र हो उठे। महाराज की यह उदारता जैसे राजा-महाराजाओं के लिए अनुकरणीय है वैसे ही सर्व साधारण लोगों के लिए भी आदर्श स्वरूप है। महाराज ने उस वृद्धा के ऊपर जैसी सुजनता दिखलाई उसकी अपेक्षा उस वृद्धा ने भी तो उनका कम शिष्टाचार न किया। एक अशिक्षिता दरिद्रा बूढ़ी का इस प्रकार अपरिचित अतिथि के साथ शिष्टाचार अवश्य प्रशंसनीय है। आज कल तो शिक्षित समाज में भी शिष्टाचार नाम मात्र का रह गया है

शिष्टाचार के विषय में खोटी समझ।

कोई कोई उद्धत प्रकृति के मनुष्य अशिष्ट व्यवहार के पक्षपाती होकर कहा करते हैं कि शिक्षा और अभ्यास के द्वारा

शिष्टाचारी होकर हम लोग कपटाचारी होना नहीं चाहते। हम लोगों को ईश्वर ने जैसा कुछ भला बुरा स्वभाव दिया है उसी के अनुसार चलना ठीक है। हम लोग अभी जिसे सत्य मानते हैं, शिष्टाचारी होने पर उसे असत्य और अश्रद्धेय समझेंगे और जिसे मिथ्या मानते हैं उस पर हम लोगों को श्रद्धा उत्पन्न होने लगेगी। शिष्टाचारी बन कर हम लोग भ्रमजाल में पड़ना नहीं चाहते। कितने ही भद्र सन्तानगण इन चिकनी चुपड़ी बातों में भूल कर भारी व्यामोह में पड़ जाते हैं और यथेच्छ व्यवहार से अशिष्टता के शिखर पर चढ़ कर एकाएक अकर्तव्य रूपी गड्ढे में आ गिरते हैं। तुम लोग कभी ऐसे भ्रम में न पड़ो। भ्रम में पड़ना ही अधःपात का कारण समझो। जो लोग यह कहते हैं कि जो जितना ही पवित्र आचरण से रहना चाहता है वह उतना ही कपटाचारी होता है वे लोग अपनी सरलता और सत्यप्रियता के अनुरोध से अपने घर की सामग्रियों को और अपने मैले कपड़ों को भी साफ़ करना कपटाचार ही समझेंगे। मानो उनका यही सिद्धान्त है कि जो जिस अवस्था में रहे उसे उसी में रहना चाहिए। अवस्था का परिवर्तन होना ही मानो उनके लिए कपट है। ऐसी समझवालों से पूछना चाहिए कि जो सोना खान से निकलता है उसकी स्वाभाविक मलिनता दूर करने और विशुद्ध बनाने के हेतु लोग उसका परिशोध

क्यों करते हैं ? देदीप्यमान करने के हेतु बार बार उसे आग में क्यों तपाते हैं ? जिस अवस्था में वह खान से निकलता है उसी अवस्था में उसे क्यों नहीं रहने देते ? महात्मा कृष्णदासपाल, द्वारकानाथ मित्र, जनरल वासिंगटन, सरवालटर स्कौट, और सिडनि स्मिथ आदि अनेकानेक महोदय विनय और सौजन्य के प्रभाव से संसार में जैसा कुछ अपना नाम संस्थापित कर गये हैं, वे अशिष्टता और उद्दण्डता का काम करके क्या उसका शतांश भी स्थापित करने में समर्थ हो सकते थे ?

अशिष्ट लोग चाहें तो धीरे धीरे चेष्टा करके कुछ दिनों में शिष्ट हो सकते हैं । वे सच्चे शिष्टाचारियों के आचार-व्यवहार, बात-चीत, और क्रिया-कलापों से भलीभाँति शिक्षा लाभ कर सकते हैं ।

महात्मा राजनारायण वसु सुजनता के मानो अवतार थे । शिष्टाचार इनमें स्वाभाविक था । क्या धनी, क्या दरिद्र, क्या परिचित और क्या अपरिचित वे सबके साथ अच्छा बर्ताव करते थे, सबका सम्मान करते थे । वे अपने नौकरों के ऊपर भी अपनी शिष्टता प्रकट करने में कुण्ठित न होते थे । कर्तव्य का पालन करना ही वे परमधर्म समझते थे । इसका परिणाम यह हुआ कि वे जहाँ जाते थे देवता के समान आदर पाकर आप तो सुखी होते ही थे किन्तु औरों को भी सुखी करते थे ।

जो लोग दरिद्र होकर भी कठोर-भाषी और उद्धत हैं उनकी तो कोई बात ही नहीं, धनवान् भी यदि ऐसे दुःशील हों तो वे लोगों के नितान्त अप्रिय हो उठते हैं। कोई उन्हें हृदय से नहीं चाहता। जो उनसे कुछ पाता है वह भी उन्हें असेव्य ही समझता है। जो लोग अप्रिय-भाषी हैं उन्हीं का साधारण नाम दुर्मुख है। जिन लोगों से अच्छे व्यवहार की आशा की जाती है वही लोग कभी कभी अयोग्य व्यवहार कर बैठते हैं। उनकी इस अशिष्टता का मूल अज्ञानता नहीं कहा जा सकता। किन्तु उनका अत्यन्त दुर्बल, दुर्विनीत हृदय ही उसका मूल कहा जा सकता है। जो व्यक्ति अज्ञानता से अशिष्टता का कोई काम कर जाता है, वह अशिष्टता का दोष जान कर संभव है कि बहुत शीघ्र अपने को सुधारे, किन्तु हृदय की दुर्बलता के कारण जो अशिष्ट व्यवहार करते हैं उनका सुधार होना कठिन है। जो दोष को जानकर भी उसे अपनाये हुए हैं, उन्हें दोष अपना सहचर समझ सहसा नहीं छोड़ सकता, जब तक वह अपने ऊपर पूर्णरूप से सहचर का विरक्तिभाव न देखेगा, दूर न होगा। कितने ही लोग ऐसे हैं जो अशिष्टता करना नहीं चाहते पर जब उनसे अशिष्टता का कोई काम हो जाता है तब एक बार तो वे उसके लिए पछताते हैं किन्तु जब योंही दो चार बार उनसे अशिष्टता हो जाती है

तब वे उसके लिए कुछ सोच नहीं करते और न उसके दुष्परिणाम की ही कुछ परवा करते, इसलिए एक बार भूल से भी अशिष्ट व्यवहार का होना मङ्गलप्रद नहीं होता । जो लोग अशिष्ट हैं उनके साथ रहना बड़ा ही दुःखद होता है। अतएव जो सुख से रहना चाहें, उन्हें अशिष्ट लोगों की संगति से दूरही रहना चाहिए।

नरेशचन्द्र छोटी उम्र में अच्छे बुद्धिमान् थे। वृद्ध गण कहा करते थे कि यह होनहार बालक है। इससे संसार का बहुत कुछ उपकार होना संभव है। नरेश बाबू में सब गुण रहने पर भी उसका कठोर स्वभाव सब अनिष्टों की जड़ हो रहा था। गुरुजन उसके कर्कश स्वभाव को न जान सके इसी से उसे स्वभाव कोमल करने की कोई शिक्षा न दी गई और न इसके लिए कोई विशेष प्रयत्न ही किया गया। नरेश क्रमशः बढ़ने लगा और कुछ दिन में उसने लिखना पढ़ना अच्छी तरह सीख लिया। युवा होने पर वह द्रव्य का उपार्जन भी अच्छा करने लगा। संसार का सभी भार एक एक कर उसके सिर पर आ पड़ा। नरेश बाबू की बुद्धि और विचार ने इस समय एक भिन्न मार्ग का अवलम्बन किया है। वह सब से कहा करता है—"मैं किसी से सहायता नहीं चाहता, कोई मेरी सहायता न करे और न मैं ही किसी की सहायता करूँगा। भिखमँगों को अन्न देना आलसियों की संख्या

बढ़ाना है, ऐसे ही भाँति भाँति के बुरे विचारों से उसका दिमाग़ भर गया। कोई फ़क़ीर जब उसके पास कुछ माँगने जाता तब वह तुरंत क्रोध में भर कर बोल उठता—"ईश्वर ने हाथ पैर दोनों दिये हैं, कमा खाओ"। शहर में भिखारियों की तो कमी ही नहीं, रोज़ रोज़ कितने ही अन्धे, लँगड़े, लूले, भूखे, दीन, हीन उसके द्वार पर आकर—"माँ भिक्षा दो" कह कर पुकारने लगे। उन सबों पर निर्दयता के साथ कठोर वाक्यों का प्रयोग करते करते नरेश का स्वभाव इतना बिगड़ गया कि अब वह अपने नातेदारों के साथ भी कठोर भाषण करने लगा। किसी के द्वारा समझाये जाने पर तो वह आग की तरह और प्रज्वलित हो उठता था। थोड़े ही दिनों में वह अपने व्यवहार से अड़ोस पड़ोस क्या, सारी बस्ती के लोगों का अप्रिय बन बैठा। दो एक आदमी के सिवा कोई उसके साथ बातचीत भी नहीं करता था। सभी लोग उसके स्वभाव से असन्तुष्ट थे। एक दिन एक अनाथ बालक उस के घर भिक्षा माँगने गया। यदि वह साधारण भिखमँगे का सा होता तब तो नरेश उसे दूर दूर कह कर ही भगा देता, किन्तु लड़के का स्वरूप अच्छे कुलशील का सा देख पड़ा। तो भी उसके हृदय में दया न आई। उसने अपने वज्र के सदृश कण्ठस्वर से उसको इस तरह घुड़का कि वह काँप उठा। उस बालक ने अपने मन में कहा—इस तरह न घुड़क

कर यदि यह मीठी बातों के साथ दो थप्पड़ भी मारता तो उतना दुःख न होता । वह बालक कुछ न बोल कर चुपचाप वहाँ से चला गया ।

जानकीनाथ बाबू कलकत्ते के किसी सौदागर के कार्यालय में मुनीम थे । वे बड़े ही दयालु थे । जो कोई भूखा उनके पास जाता था, उसे वे दो एक मुट्ठी अन्न देते थे । वह अनाथ बालक जानकीनाथ बाबू के निकट आया ।

जानकी बाबू ने पूछा—"तुम क्या चाहते हो ?"

बालक—"मैं दरिद्र हूँ, मेरे पास कुछ नहीं है । जो आप ख़ुशी से देंगे मैं वही लूँगा ।"

जानकी बाबू—"भोजन किये हो या भूखे हो ?"

बालक—"नहीं, मेरी मा ने भी दो दिन से कुछ नहीं खाया है ।"

जानकीनाथ बाबू ने एक पुर्ज़ा लिख कर उसके हाथ में दिया और कहा—"जिस मोदी के नाम से मैंने यह पुर्ज़ा लिख दिया है उसे जाकर दो, वह तुम्हें एक मन चावल, दो पसेरी दाल, एक सेर घी और नमक, मसाला, तरकारी देगा सो ले कर अपनी भूखी मा के पास ले जाओ ।" यह कह कर उन्होंने एक मज़दूर भी उस लड़के के साथ कर दिया । लड़के की

दोनों आँखों में आँसू भर आये। जानकी बाबू ने कहा—"कुछ चिन्ता नहीं, अनाथों का नाथ ईश्वर है। वही दीन दुखियों की रक्षा करता है।"

बालक—"महाशय, ईश्वर की कृपा पर निर्भर होकर ही भिक्षा के लिए घर से बाहर निकला हूँ। मेरी आँखों में आँसू आने का दूसरा कोई कारण नहीं है। मैं इस महल्ले के एक रईस के पास गया था। उनके बाहरी ठाट बाट से मैंने उन्हें धनवान् और दाता समझा; किन्तु उन्होंने ऐसी फटकार बतलाई कि मुझे भागने का रास्ता न सूझा। आपने जो मीठी बातें कह कर मेरे साथ इस प्रकार की दयालुता दिखलाई है उससे मेरा हृदय द्रवित हो उठा है। मैं किसी प्रकार अपने हृदय के आवेग को नहीं रोक सकता।" यह कह कर वह बालक उनकी कृतज्ञता प्रकाश करता हुआ चला गया।

उधर नरेश बाबू के घर में एक रात को सेंध लगी। उसके घर में जितना माल असबाब था सब चोरी हो गया। जब चोर उसके घर से द्रव्य ढो रहे थे तब नरेश जाग पड़े। उन्होंने पड़ोसियों के नाम ले लेकर कितना ही चिल्लाया, कितना ही उन्हें पुकारा, पर एक व्यक्ति भी उसकी सहायता करने न आया, आख़िर वह हाय हाय करके रह गया। चोर बड़ी निर्भयता के साथ सब माल ढोकर ले गये।

स्वार्थी लोग शिष्टाचारी नहीं हो सकते ।

"जैसे चीटियां अपने सुख के लिए बगीचे की शोभा बिगाड़ डालती हैं, अच्छे अच्छे पेड़ों की जड़ खोद कर उन्हें सुखा डालती हैं, वैसे ही स्वार्थलोलुप लोग अपने सुख के लिए दूसरे की हानि करने में ज़रा भी नहीं हिचकते ।" (बेकन)

जो लोग स्वार्थ-साधन को ही जीवन का उद्देश मान बैठे हैं उन लोगों से समाज का कोई उपकार होना संभव नहीं। स्वार्थी लोग सर्वदा यही सोचते हैं कि किसी तरह अपना मतलब निकालना चाहिए। अपने मतलब की बात सिद्ध हुई ते। सब हुआ। संसार भले ही ग़ारत हो, उससे मेरा क्या हानि-लाभ। मैं किस तरह सुखी होऊँगा? मैं कैसे धनी होऊँगा? समाज में मेरा सम्मान कैसे बढ़ेगा? जो दिन रात अपने मन में यों ही चिन्ता करता रहता है और उसके साधन में जी जान से लगा रहता है उस अन्धे को यह नहीं सूझता कि स्वार्थत्याग ही से स्वार्थ-सिद्धि प्राप्त होती है। वे स्वार्थान्ध यह नहीं समझते कि वे दूसरे से जैसे अपने उपकार की आशा रखते हैं वैसे ही अन्य व्यक्ति भी उनसे उपकृत होने की आशा रखते हैं। तुम जिस तरह धन चाहते हो, सुख-सम्मान चाहते हो उसी तरह और लोग भी चाहते हैं। अपनी किसी चीज़ के बिगड़ने पर जैसे तुम दुखी होते हो वैसे ही अन्य लोग भी दुखी होते हैं। जैसे तुम अपने आराम, अपनी प्रतिष्ठा और

अपने सम्मान की बात सोचते हो वैसेही सब सोचते हैं। जब तुम दूसरे की ज़रासी भी टेढ़ी भौहें, एक बढ़ी चढ़ी बात और परिहास नहीं सह सकते तब तुम्हीं सोचो, इन बातों को दूसरा व्यक्ति क्योंकर सह सकता है? तब तुम कठोर कण्ठस्वर से बड़ी उद्दण्डता के साथ दूसरे का परिहास करके उसके हृदय में क्यों कष्ट पहुँचाते हो? जिन बातों को तुम अपने लिए पसन्द न करो उन्हें तुम दूसरे के लिए भी वैसे ही समझो। तुम अपने अन्तःकरण को सुखी करने के लिए दूसरे का जी कभी न दुखाओ। जो लोग अपने सुख के लिए दूसरे का जी दुखाते हैं वे स्वार्थी बनकर अपने मनुष्य-जीवन को कलङ्कित करते हैं।

संसार में जितने बड़े बड़े साधु, महात्मा, धार्मिक, योगी और कर्मकाण्डी आदि हुए हैं, जो अपने अपने निर्मल चरित्र के प्रकाश से मानव-समाज को उज्ज्वल कर गये हैं, वे सभी निःस्वार्थ थे।

तुम लोगों ने जिस देश में जन्मग्रहण किया है वह किसी समय स्वार्थत्यागी महापुरुषों का कर्म-क्षेत्र था। जो भारत पहले था वह अब नहीं है। स्वार्थपरता के कारण यह भारत देश नष्टप्राय हो रहा है। स्वार्थपरता से जो सर्वनाश होता है उसका इस समय भारत का इतिहास ही ज्वलन्त प्रमाण हो रहा है।

जीवन-मुकुर

१—दूसरे के साथ तुम वैसा ही व्यवहार करो जैसा अपने लिए अच्छा समझो । अर्थात्—अगर तुम किसी से मीठी बात सुनना चाहते हो तो तुम मीठी बात बोलो और किसी की गाली नहीं सुनना चाहते तो किसी को गाली मत दो ।

२—हम लोगों के परस्पर जितने व्यवहार हैं आइने में मुँह देखने के बराबर हैं । जैसे अपने को सामने रख कर हँसोगे तो प्रतिविम्ब हँसेगा और रोओगे तो प्रतिविम्ब रोवेगा । वैसे ही तुम किसी का उपकार करोगे तो तुम्हारा भी कोई उपकार करेगा और तुम किसी की हानि करोगे तो बदले में हानि भुगतनी पड़ेगी । प्रेम करने पर प्रेम, शत्रुता करने पर शत्रुता प्राप्त होगी । हृदय दोगे तो हृदय पाओगे । कपट के बदले कपट मिलेगा । तुम हँस कर बोलोगे तो तुम्हारे साथ संसार के लोग हँस कर बोलेंगे । तुम मुँह छिपाओगे तो संसार के लोग तुमसे मुँह छिपावेंगे । दूसरे को सुखी करोगे तो आप सुखी होओगे और दूसरे को दुख दोगे तो ख़ुद दुख पावोगे, दूसरे का सम्मान करोगे तो तुम्हारा सम्मान भी लोग करेंगे । दूसरे का अपमान करोगे तो तुम्हें अपमानित होना पड़ेगा । सारांश यह कि जैसा काम करोगे वैसा ही फल मिलेगा । इस संसार में कर्मबीज कभी विफल नहीं होता ।

३—आलसी किसान खेत को अच्छी तरह जोत जात कर यदि समय पर उसमें बीज न बोवे तो एक दिन वह अपने सूने खेत में बैठ कर परिश्रमी किसानों को धान का संचय करते देख कर ज़रूर पछतावेगा।

४—दुखियों की आह सुन कर यदि तुम हँसोगे, दीन हीन अनाथों की आँखों के आँसू न पोंछ कर घृणा के साथ उनकी उपेक्षा करोगे, तो इस संसार में तुम्हारे आँसू पोंछने कौन आवेगा? संकट में कौन तुम्हारी सहायता करेगा?

साधारण कामों में सुजनता का प्रकाश

पहले यह बात कही जा चुकी है कि शिष्टाचार की कोई सीमा निर्दिष्ट नहीं है। हम लोग पारिवारिक, सामाजिक और राजकीय बातों के इतने पाबन्द हैं कि जब तक जागते रहते हैं तब तक प्रायः इन तीनों में से एक न एक का दबाव हमारे ऊपर रहता ही है। हम लोगों को स्वतन्त्रता का सुख प्रायः उतनी ही देर तक मिलता है जब तक कि हम लोग गाढ़ी नींद सोते हैं। हम लोगों को जीवन का अधिकांश समय दूसरों के साथ में रह कर ही बिताना पड़ता है। जो लोग अपनी प्रतिभा के बल से संसार में प्रसिद्ध हुए हैं, जिन लोगों के जीवन-चरित बड़े आदर के साथ पढ़े जाते हैं, उन

लोगों का जीवन जैसी घटनाओं से भरा है,- साधारण लोगों का जीवन भी ऐसी ही घटनाओं से भरा है। महापुरुषों के असाधारण जीवन-चरित जैसे विचित्र घटनाओं के प्रदर्शक होते हैं वैसे ही साधारण मनुष्यों का जीवन-चरित भी सामान्य घटनाओं का एक धारावाही इतिहास है। यद्यपि सच्चे शिष्टाचारी साधु पुरुषों का जीवन-चरित्र सर्वथा उपादेय है तथापि साधारण मनुष्य का कोई कोई सामान्य जीवन-वृत्तान्त भी कम उपादेय या कम चमत्कारजनक नहीं है। दिनचर्या के सामान्य विषयों में सुजनता का कोई कोई काम ऐसा हो पड़ता है, जो समारोह के समय में नहीं होता। जिस समय अशिष्ट जन भी सुजनता प्रकाश करने में मुँह नहीं मोड़ते वह समय उस समारोह काल से कहीं बढ़कर अच्छा है।

अँगरेज़ी के किसी विद्वान् ने कहा है कि "अभ्यासही मनुष्यों का साधारण स्वभाव है।" जिन लोगों ने बचपन में सौजन्य-शिक्षा का लाभ नहीं किया, जो लोग सौजन्य-प्रकाश करने का संकल्प करके भी अपने कठोर स्वभाव के दोष से अशिष्ट व्यवहार कर बैठते हैं, वे लोग साधारण कामों में शिष्टाचारी होने का अभ्यास करते करते अन्त में शिष्ट और सुशील हो सकते हैं। कैसी ही कोई बात क्यों न हो, क्रमशः अभ्यास करते करते वह स्वाभाविक हो जाती

है। वाचाल मनुष्य मितभाषी बनने की नक़ल करते करते कुछ दिनों में यथार्थ ही में मितभाषी हो जाता है। तब फिर उसे नक़ल करने की ज़रूरत नहीं होती। जो स्वभाव के चञ्चल हैं, वे गम्भीर भाव का अभ्यास करके गम्भीर बन सकते हैं। इसी प्रकार जो गम्भीर प्रकृति के मनुष्य हैं वे वाचाल बन्धु-बान्धवगणों में रह कर उन लोगों के मनः-सन्तोषार्थ वाचालता का अनुकरण करते करते स्वभावतः वाचाल हो जाते हैं।

हम लोगों के देश में शिष्टाचार के एक से एक बढ़कर असंख्य दृष्टान्त विद्यमान हैं; किन्तु आजकल शिष्टाचार का एक प्रकार से सर्वत्र अभाव सा हो रहा है। इसका कारण और कुछ नहीं, केवल शिष्टाचार का असल अर्थ न समझ कर कितने ही विलासप्रियों का, और शिक्षाज्ञान से हीन धनवानों की रीति नीति और मार्ग का, अन्धवत् अनुकरण करना मात्र है।

चिरकाल तक अशिष्ट व्यवहार से हृदय की कोमलता नष्ट हो जाने पर भी कोई इस बात को अस्वीकार नहीं कर सकता कि अशिष्ट लोगों के संसर्ग की अपेक्षा शिष्टाचारी विनयी सज्जन की संगति में विशेष सुख है। मनुष्य-समाज को सुखी बनाने के हेतु कितने ही उपाय हैं। उनमें शिष्टव्यवहार भी यदि एक उपाय मान लिया जाय और इससे दूसरी कोई

उपकारिता न समझी जाय तो भी सुजनता की शिक्षा नितान्त आवश्यक है। सामान्य सुजनता से भी कभी कभी लोगों का विशेष उपकार हो जाता है।

कलकत्ते में ड्रेन (नाली) बनने के पहले सड़क के किनारे एक गहरा नाला बना हुआ था। वह कीचड़ और मैले पानी से बराबर भरा रहता था। उसमें यदि कोई गिर पड़े तो फिर उसका निकलना कठिन हो जाता था। किसी समय एक वृद्ध अन्धा भिखारी जिधर जाना चाहिए उधर न जाकर भूल से नाले की तरफ़ जा रहा था। एक गाड़ी आने का शब्द सुन कर एकाएक वह लम्बी डिग धरके नाले के बिलकुल पास पहुँच गया। वह नाले में गिरा ही चाहता था कि इतने में एक तेरह चौदह वर्ष के बालक ने उसको विपद में पड़ते देख झट दौड़कर उसे पकड़ कर रोका, और वह भय न खाय इसलिए रोकने का कारण भी उससे कह दिया। जब गाड़ी आगे निकल गई तब वह लड़का वृद्ध को सड़क बताकर आप जिधर जा रहा था चला गया। उस अन्धे ने बालक का ऐसा सदय व्यवहार देखकर उसे बहुत बहुत आशीर्वाद दिये। यदि बालक उस भिखारी को अभद्र वेश में देखकर उसके शरीर-स्पर्श से घृणा करता और वृद्ध के विपद की ओर ध्यान न देकर बराबर चला जाता अथवा उसके आसन्नसंकट पर दूर ही से दो एक बूँद आँसू गिराकर चल देता तो इससे क्या बालक का

बड़प्पन समझा जाता ? कभी नहीं। उसके इस साधारण काम से जो इतना बड़ा उपकार हुआ। एक असहाय असमर्थ मनुष्य की जो प्राण-रक्षा हुई इसे कौन नहीं स्वीकार करेगा ? दो एक भद्र मनुष्य भी ठीक उसी समय उस रास्ते से जा रहे थे, वृद्ध को नाले की तरफ़ जाते देखकर बोले—"अहा, यह अभागा अन्धा अभी नाले में गिरकर ज़रूर अपना हाथ पाँव तोड़ डालेगा।" एक व्यक्ति ने परिहास करते हुए कहा। "इस बूढ़े की मृत्यु निकट आ पहुँची।" अन्धा बहुत वृद्ध होने के कारण कान से कम सुनता था इसी से उन लोगों की बात उसे सुनाई न दी। उस बालक ने कुछ न कहकर अन्धे को विपद से बचा लिया। इस तरह की कितनी ही घटनायें रोज़ रोज़ हुआ करती हैं। उसकी गणना कोई कहाँ तक कर सकता है ? मनुष्यों की सामान्य सहानुभूति और सदय व्यवहार के अभाव से संसार का कितना बड़ा अनिष्ट हो रहा है इसका भी कोई निर्णय नहीं कर सकता।

यह घटना विशेष चमत्कार-जनक न होने पर भी तुम लोग इससे इतना ज़रूर समझोगे कि दूसरे का दुख देखकर केवल दया दिखलाने, अथवा व्याकुल होकर दो एक बूँद आँसू गिराने से कुछ नहीं होता, केवल मन ही मन भावना करने से कार्य सिद्ध नहीं होता, कार्य की सफलता कार्य

करने ही में होती है। जिसे तुम मन में अच्छा समझो, उसे सोचते ही न रहो, उसका व्यवहार भी करो। भले बुरे कामों का साक्षी तुम्हारा अन्तःकरण ही है। अन्तःकरण तुम्हें अच्छा काम करने के लिए प्रेरणा करता है, किन्तु कुबुद्धि तुम्हें रोक रखती है। अतएव जब तक कुबुद्धि को हृदय से दूर न करोगे तब तक तुमसे एक भी अच्छा काम होने की कोई आशा नहीं कर सकता। तुम स्वार्थ त्यागकर ज्यों ज्यों सुजनता का अभ्यास करोगे त्यों त्यों कुबुद्धि आप से आप दूर होती जायगी। और सुबुद्धि की क्रम ही क्रम वृद्धि होगी। सुबुद्धि की वृद्धि होने पर तुम सच्चरित होकर अपनी सुजनता से लोगों का बहुत कुछ उपकार कर सकते हो। बहुत लोगों का कथन है कि "वह सुजनता ही किस काम की, जिस का उद्देश अच्छा नहीं।" ऐसे ही दया का यदि कुछ काम न किया तो केवल दया की चिन्ता करने से क्या फल ?

स्वाभाविक सहानुभूति सुजनता का एक अङ्ग है।

"सभी समय में सुजनता का प्रकाश करना असम्भव है। किन्तु यथार्थ सहानुभूति रहने से समय समय पर सुजनता का प्रकाश किया जा सकता है।"

नवीन और नक्षत्र नाम के दो लड़के एन्ट्रेन्स परीक्षा देने के लिए तैयार हो रहे थे। नवीन दरिद्र का लड़का था इस कारण परीक्षा में उत्तीर्ण न होने से वह आइन्दे न पढ़ सकेगा। नक्षत्र विशेष धनवान् का बालक तो न था किन्तु नवीन की अपेक्षा उसकी अवस्था कुछ अच्छी थी। इसी समय दुर्भाग्यवश नवीन के पिता का देहान्त हो गया। अपनी अभागिनी माता के वही एक मात्र सन्तान था। उसने अपने मन में सोचा—"मैं इस समय अपना पाठ छोड़ कर किसी काम की खोज में फिरूँगा तो अपनी माता का दारिद्र्य-दुःख दूर न कर सकूँगा। इसलिए जिस तरह होगा प्रवेशिका परीक्षा अवश्य दूँगा।" इस प्रकार वह मनही मन संकल्प कर के जान लड़ा कर परिश्रम करने लगा। जब परीक्षा देने का समय समीप आ पहुँचा तब उस बालक नवीन ने परीक्षार्थ धन के लिए अपनी माँ के पास जाकर रुपया माँगा। उसकी माँ रोने लगी। उसके पास ऐसी एक भी वस्तु न थी जो गिरवी रख कर कुछ रुपया संग्रह कर सकती। वह तो केवल अपने बालक का मुँह देखकर ही अत्यन्त कष्ट से दिन काट रही थी। नवीन अपनी माता को रोते देख फिर कुछ न बोला, वह चुपचाप अपने सोने की कोठरी में जाकर आँसू बरसाने लगा। इसी समय नक्षत्र ने आकर देखा कि नवीन रो

रहा है। रोने का कारण पूछने पर जब नक्षत्र को सब समाचार विदित हुआ तब उसने कहा—"भाई नवीन, तुम इतनेही के लिए रो रहे हो चलो, हम तुम्हारे नाम से रुपया जमा कर आते हैं।" नक्षत्र ने ठीक समय पर नवीन का रुपया दाख़िल कर दिया। उस के बाद कुछ समय तक नक्षत्र के साथ नवीन की भेंट न हुई। नियत दिन में परीक्षा का फलाफल जानने के लिए सभी विद्यालय में जाकर उपस्थित हुए। प्रोफ़ेसर ने परीक्षोत्तीर्ण विद्यार्थियों के नाम पढ़कर सुनाये। नवीन ने परीक्षोत्तीर्ण होकर सरकार से छात्रवृत्ति पाई है। नक्षत्र विश्वविद्यालय के प्रधान छात्रों में गिना जाता था। अध्यापक लोग एक स्वर से कहा करते थे कि नक्षत्र विश्वविद्यालय के उत्तीर्ण छात्रों में प्रथम होगा। किन्तु नक्षत्र का नाम नहीं। नक्षत्र ने नवीन का नाम सुन कर बड़े उल्लास से उसका हाथ पकड़ कर अपने हृदय का आनन्द प्रकट किया। मानो उसकी कृतज्ञता में नवीन की दोनों आँखों में आँसू भर आये। प्रधान अध्यापक ने यह व्यापार देखकर कुतूहलवश नक्षत्र को एकान्त में बुला कर पूछा "तुमको इस बार परीक्षा में उत्तीर्ण होने की पूरी आशा थी, हम लोगों को पूरा विश्वास था कि तुम सबमें प्रथम होगे। तुमने परीक्षा क्यों नहीं दी? नक्षत्र ने कहा—"नवीन की आर्थिक अवस्था अच्छी

नहीं है। मैंने जब सुना कि रुपये के अभाव से वह इस साल परीक्षा न दे सकेगा और उसके पास ख़र्च के लिए इतनी पूँजी भी नहीं जो फिर वह आगे पढ़ सकेगा। परीक्षा न देनेपर उसको पढ़ना छोड़ देना पड़ेगा। नवीन की माता बड़े कष्ट से दिन बिता रही है। वह बेचारी रुपया कहाँ पावेगी जो अपने पुत्र को पढ़ावेगी। नवीन के बाप का देहान्त भी इसी वर्ष हो गया है। तब ऐसे संकट के समय नवीन को सान्त्वना देना मैंने बड़ाही आवश्यक समझा। इसी से मैंने अपनी फ़ीस का रुपया नवीन को ऋण देकर उसी के नाम से जमा कर दिया। मेरे परीक्षा में न जाने का यही कारण हुआ। मैंने यह सोच कर कि मेरे परीक्षा में न जाने की बात सुनकर शायद नवीन रुपया न ले और मेरे पिता मुझ पर नाराज़ हों परीक्षा के पहले किसी से कुछ न कहा। जब मेरे पिता को सब समाचार विदित हुए तब उन्होंने वह रुपया वापस लेना उचित नहीं समझा जो मैंने नवीन को ऋण कह कर दिया था। अध्यापक ने नक्षत्र के मुँह से ये सारी बातें सुन कर नक्षत्र के उदार हृदय की और उसके निःस्वार्थ भाव की बहुत प्रशंसा की।

शिष्ट व्यवहार में लोकलज्जा आदि कुसंस्कारों पर ध्यान न देना चाहिए।

पहले ही कहा जा चुका है कि उस सुजनता से कोई फल नहीं जो व्यवहार में न लाई जाय। सुजनता की सार्थकता तभी होती है जब उसका काम किया जाता है। इससे यह न समझना चाहिए कि मौखिक शिष्टाचार का कुछ प्रयोजन ही नहीं। मौखिक शिष्टता को एकदम छोड़ ही न देना चाहिए। कारण यह कि सब समय सुजनता का काम करने की आवश्यकता नहीं होती। मान लो कि जहाँ केवल दो एक मीठी बातों से ही किसी का सम्मान करके सौजन्य दिखलाना है वहाँ मौन हो रहना वा उससे विरुद्ध बर्ताव करना उपहास का अथवा असन्तोष का कारण होता है। कार्यमात्र की सीमा निर्दिष्ट है। किसी काम की सीमा पार कर जाना उचित नहीं। सीमा-उल्लङ्घन से फल उलटा हो जाता है। मान्य व्यक्ति को भी अत्यधिक सम्मान दिखलाना उसके लज्जा, दुःख और अपमान का कारण होता है। लार्ड बेकन ने अपनी पुस्तक में एक जगह लिखा है कि प्रमाण से अधिक शिष्टता दिखलाने से लोगों को उद्वेग होने लगता है और विश्वास भी उठ जाता है। इसी तरह जहाँ उचित उपकार और विशेष सौजन्य

प्रकाश करने का प्रयोजन है वहाँ लोकलज्जा से या आत्मगैारव से अथवा किसी दूसरे ही कुसंस्कार के कारण केवल मैाखिक सुजनता दिखलाना ठीक नहीं। जहाँ दैहिक बल की आवश्यकता है वहाँ वाचिक शक्ति कुछ काम नहीं देती। इस बात की सत्यता निम्नलिखित एक यथार्थ घटना* के द्वारा भली भाँति प्रकट होती है।

सन् १८८९ ई० के जाड़े का मैासम था। फ़्रांस की राजधानी पैरिस शहर के राज-मार्ग से रात को एक अन्धा वृद्ध मनुष्य हाथ में एक वीणा लिये धीरे धीरे जा रहा था। वह बुढ़ापे की कमज़ोरी और भूख से अत्यन्त विह्वल हो कर धीमे शब्दों में पथिकों से भीख माँगता फिरता था। वह सङ्गीतविद्या में बड़ा ही निपुण था। किन्तु इस समय उसे यह सामर्थ्य नहीं थी कि गा बजा कर वह लोगों के चित्त को अपनी ओर आकृष्ट कर सकता, रात बहुत बीती जा रही थी। राज-मार्ग क्रमशः पथिकों से शून्य हुआ जा रहा था।

वृद्ध मनही मन सोचने लगा—आज इस रात में अब मेरी ओर कैान दृष्टि डालेगा! कैान मेरी ख़बर लेगा? दे दिन से तो कुछ खाया नहीं। आज रात में यदि कुछ खाने को न मिलेगा तो मेरे प्राण न बचेंगे। वह इस प्रकार

* वामाबोधिनी पत्रिका से उद्धृत।

सोचता हुआ सड़क के किनारे बैठ गया। उसी समय तीन युवक उस रास्ते से कहीं जा रहे थे। वे तीनों अच्छे कुल-शील के थे और गाने बजाने में कुशल थे; वे तीनों युवक उस वृद्ध के हाथ में सितार देख कर उसके पास जा पहुँचे और उसका सारा वृत्तान्त सुन कर बड़े दुखी हुए। उन तीनों के हृदय में दया उमड़ आई। आँखों से आँसू टपकने लगे। पहला युवक बोला—भाई, आओ, हम लोग इस वृद्ध को कन्धे पर उठा कर अपने घर पर ले चलें।

दूसरे ने कहा—यह तो बड़ी सहल बात है, किन्तु डेरे पर लेजाकर हमलोग इस का कुछ विशेष उपकार न कर सकेंगे। हम लोगों को तक़लीफ उठा कर भी जिसमें इस का कुछ उपकार हो सो करना चाहिए।

तीसरे ने कहा—"एक काम करो, इसका जो व्यवसाय है हम लोग आज उसीका अवलम्बन कर इसके साथ सहानुभूति प्रकट करें और उसका सितार लेकर इस राजमार्ग में उसी की तरह गा बजा कर हम लोग पथिकों से कुछ द्रव्य एकत्र कर उस वृद्ध को देकर उस का दुख दूर करने की चेष्टा करें।"

तृतीय युवक के मुँह से यह प्रस्ताव सुन कर पहला युवक वृद्ध के पास से सितार लेकर बजाने लगा। वह सितार बहुत अच्छा बजाना जानता था। सितार का मधुर शब्द

सुन कर क्रमशः पथिक लोग वहाँ आ कर जुटने लगे। दूसरे युवक ने गाना शुरू कर दिया। उन दिनों पैरिस शहर में जिन सब स्वदेशानुरागवर्द्धक गीतों को लोग अधिक पसन्द करते थे, उसने उन्हीं में का एक गीत गाया। सुननेवालों ने ख़ुश हो कर जिससे जो कुछ बन पड़ा उन गाने-बजाने वालों को पुरस्कारस्वरूप द्रव्य दिया। चारों ओर से उन गुणियों के निकट रुपये बरसने लगे। दूसरे युवक का गाना जब ख़तम हुआ तब तीसरा गाने लगा। इसका स्वर बहुत ही मीठा था। पथिकगण मुग्ध हो कर सुनने लगे। इसका गाना समाप्त होने पर फिर पथिकों ने कितने ही रुपये पुरस्कार में दिये। वह भूखा वृद्ध भिखारी यह व्यापार देख कर चकित हो गया। वह इतना विस्मित हुआ कि कुछ बोलने तक का भी सामर्थ्य उसे न रहा। जब पथिकगण क्रमशः चले गये तब उन तीनों युवकों ने पथिकों से जो रुपये पाये थे वे वृद्ध के हाथ में रख दिये। वृद्ध आनन्द और कृतज्ञता से पुलकित हो कर तीनों युवकों को हृदय से आशीर्वाद देने लगा। जब वे जाने लगे तब वृद्ध ने उनके नाम पूछे और कहा कि मैं जब तक जीता रहूँगा, ईश्वर के निकट प्रार्थना करने के समय आप का नाम लूँगा और आप लोगों की भलाई के लिए निश्छल भाव से प्रति दिन ईश्वर की प्रार्थना करूँगा।

प्रथम युवक ने अपना नाम बतलाया—"विश्वास"

दूसरे ने कहा—"मेरा नाम धैर्य है।"

तीसरे ने कहा—"मेरा नाम प्रेम है।"

यह कह कर तीनों युवक चले गये। वृद्ध के शरीर में रोमाञ्च हो आया। उसने मन ही मन कहा—"मैं विश्वासशून्य, धैर्यशून्य और ईश्वर तथा मनुष्यों के प्रति प्रेमशून्य हो कर चारों ओर मारा फिरता था; इन तीनों युवकों का शिष्ट व्यवहार देख कर आज मेरे हृदय में विश्वास, धैर्य और प्रेम का उदय हो आया। ईश्वर, तुम धन्य हो! धन्य तुम्हारी दया है?"

अब तुम लोग अपने मन में सोच सकते हो कि वे तीनों युवक यदि वृद्ध की दुर्दशा पर केवल आँसू बहाकर या दो एक मीठी बात कह कर चल देते तो उससे उस वृद्ध का क्या उपकार होता? पर उन तीनों ने परोपकार को कर्तव्य मान कर आत्मगौरव या लोक-लज्जा की तरफ़ ध्यान न दिया। यदि वे गाने-बजाने में संकोच करते तो क्यों कर उस वृद्ध का इतना बड़ा उपकार कर सकते।

एक और घटना की बात सुनाता हूँ। एक दिन लूपलाइन के गुष्करा स्टेशन में जब रेलगाड़ी आकर ठहरी तब रेल के कितने ही यात्री उतरे। एक वृद्धा भी वहाँ उतर पड़ी। उसके पास एक गट्ठर था जो वज़न में कुछ भारी था। उसने

गाड़ी से गट्ठर निकाल कर बाहर लाने की बहुत कोशिश की पर वह न ला सकी, इधर गाड़ी चलने का भी समय होगया, झुंड के झुंड यात्री लोग गाड़ी में आकर बैठने लगे। वृद्धा ने जब गट्ठर बाहर निकाल लाने का कोई उपाय न देखा तब उन रेल के कितनों ही यात्रियों से गट्ठर बाहर कर देने के हेतु विनती की पर उस समय किसकी कौन सुनता है। किसकी ओर कौन दृक्पात करता है? सब अपने अपने कामों में स्वार्थवश अन्धे हो रहे थे। किसी ने वृद्धा की विनती पर कान न दिया। वृद्धा रोने लगी। तथापि किसी ने उस पर ध्यान न दिया। किन्तु उसके रोने कलपने की बात एक दूसरे मनुष्य ने दूर से सुनी। क़ासिम बाज़ार के महाराज मनीन्द्रचन्द्र नन्दी उस ट्रेन से कलकत्ते जा रहे थे। वे अपनी गाड़ी से उतर कर तीसरी श्रेणी की गाड़ी में जहाँ वह बुढ़िया थी दौड़ कर आये और जल्दी जल्दी उसका गट्ठर उसके माथे पर रख दिया। तब गाड़ी छूटने ही पर थी, गाड़ी छूटने की घंटी पहले ही बज चुकी थी; वे वृद्धा के कृतज्ञता प्रकाश करने के पहले ही लपक कर अपनी गाड़ी में जा बैठे। वृद्धा अपनी गठरी माथे पर ले, आँखों के आँसू पोंछती हुई, कृतज्ञता प्रकाश करती हुई और महाराज को बहुत बहुत आशीर्वाद देती हुई चली गई। आज कल तो कितने ही फर्स्ट क्लास के मुसाफ़िर तीसरे दर्जे की गाड़ी के

पास जाने में भी पसोपेश करते हैं, उन्हें लोक-लज्जा मालूम होती है और एक मैले कुचैले वस्त्रवाली असहाय अबला के माथे पर गठरी उठा कर रख देने का नाम सुन कर तो शायद नाक सिकोड़ेंगे; दरिद्र लोगों का स्पर्श करना मानो उनके लिए महापाप है। इस प्रकार दुखियों से घृणा करने का कारण स्वाभाविक सुजनता का अभाव, हृदय की संकीर्णता और कुसंस्कार ही है।

शिष्टाचार आन्तरिक विनय का बाह्य लक्षण है।

यह कहना अत्युक्ति न होगी कि राजनारायण बाबू का शिष्टाचार आदर्शस्वरूप था। बाबू द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर ने कहा था कि उनके सदृश सज्जन और सुशील मुझे कोई दिखाई नहीं देता। यथार्थ में सत्पुरुष के सभी गुण उनमें विद्यमान थे। रुग्ण होकर जब वे शय्यागत हुए थे तब भी उन्होंने अपनी शिष्टता न छोड़ी। जो लोग उनसे आशीर्वाद लेने के लिए उनके पास जाते थे, उन लोगों से वे विनय-पूर्वक कहते थे कि मैं उठने में असमर्थ हूँ इसी से मैं आपका अभिवादन उठ कर न कर सका, आप मेरी इस अशिष्टता

को क्षमा करेंगे। इस अनन्यदुर्लभ शिष्टाचार के कारण वे छोटे बड़े सब मनुष्यों के प्रिय थे। साहब लोग उन्हें गुड ओल्ड मैन (Good old man) कह कर पुकारते थे। देशी वा विदेशी जो कोई उनसे मिलने आता था वह उनके साथ बात चीत करके मुग्ध हो जाता था। एक बार राजनारायण बाबू हाईकोर्ट के एक मद्यपायी एटर्नी के साथ तीन घंटों से भी अधिक समय तक सहिष्णुतापूर्वक बैठ कर बात चीत करते रहे, उन्होंने यही सोच कर इतनी देर तक उसके असह्यप्रलाप वाक्यों का सहन किया कि विदा कर देने से शायद उसके मन में दुःख होगा। धार्म्मिक, सामाजिक, और साहित्य-सम्बन्धी आदि अनेक विषयों में कितनों ही के साथ उनको वादानुवाद करने का अवसर प्राप्त हुआ पर ऐसी बात उनके मुँह से कभी न निकली जिसे सुन कर किसी के हृदय में चोट पहुँचती। कितने ही लोग समालोचना के लिए उनके पास ग्रन्थ भेजते थे। जिसे प्रशंसा के योग्य समझते थे उसकी मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते थे ; और दोषों को इस मधुर भाव से दिखलाते थे जिससे किसी के हृदय में ज़रा भी दुःख न होता था। वे जो लोगों के साथ इस तरह का व्यवहार करते थे उसका प्रधान कारण उनका स्वाभाविक विनय ही था।

(संजीवनी)

जिनके अन्तःकरण में विनय का भाव नहीं है उनकी सुजनता अस्वाभाविक हो पड़ती है। वे अधिक समय तक शिष्टाचार के नियम की रक्षा नहीं कर सकते। उनके कण्ठ-स्वर, असहिष्णुता, उदासीनता, और क्रोध भाव से उनकी वनावटी सुजनता का पता शीघ्र लग जाता है। विद्वानों ने क्या स्त्री क्या पुरुष दोनों ही के लिए विनय को ही प्रधान भूषण माना है, 'शीलं परं भूषणम्' सोने चांदी के भूषण जैसे शरीर की बाहरी शोभा बढ़ाते हैं वैसे ही विनयरूपी भूषण मन को अलङ्कृत कर उसकी शोभा बढ़ाता है। सुजनता या शिष्टाचार इसी विनयधर्म का बाह्य लक्षण है। जिसका हृदय दुर्विनीत है वह कभी सुजनता प्रकाश करने में समर्थ न होगा।

बाध्यबाधकभाव ।

रेभरेन्ड चार्ल्स किंस्ली ने कहा है कि "हम लोग जब जन्म लेते हैं तभी से अकेले रहकर अपनी रक्षा नहीं कर सकते। जितने लोगों के साथ हम रहते हैं, उन लोगों से हमें शारीरिक, मानसिक कामों के सम्पादनार्थ सहायता पाने की सर्वदा आवश्यकता रहती है। हम लोग जो कपड़े पहनते हैं, वे दूसरे ही के बनाये हैं, जिस घर में हम रहते

हैं उसे भी किसी दूसरे ही ने बनाया है। अन्य व्यक्ति ही हम लोगों के भोजन का पदार्थ संग्रह करके रखता है। दूसरों का काम करके जैसे हम लोग जीविका प्राप्त करते हैं वैसे ही दूसरे व्यक्ति भी हम लोगों का काम करके जीवन-निर्वाह करते हैं। बाल्यावस्था में माँ-बाप ही लाड़ प्यार से बच्चे को पालते पोसते हैं। तदनन्तर ज्यों ज्यों उम्र बढ़ती जाती है त्यों त्यों अन्यान्य व्यक्तियों की सहायता आवश्यक होती है। बिना सहायक के हम लोग एक दिन भी सुख से नहीं रह सकते। विद्या सीखने के लिए शिक्षक और पाठशाला का प्रयोजन होता है। वाणिज्य व्यवसाय में विविध देशवासियों के साथ व्यवहार करना पड़ता है; अपने जातीय धर्म, समाज और राज-नियम के अनुकूल चलना होता है; सुख-दुख में स्वजन बन्धुगणों के साथ हर्ष शोक मनाने की आवश्यकताएँ पड़ती हैं इन्हीं सब कारणों से हम लोग हमेशा ही दूसरे का मुँह ताका करते हैं, और उससे सहायता पाने की आशा रखते हैं। देश, काल और पात्र के भेद से इस बाध्यबाधक भाव की ह्रास-वृद्धि होती है। कोई व्यक्ति जब किसी विशेष कारण से किसी के द्वारा विशेष उपकृत होता है तब वह व्यक्ति अपने उपकारी के निकट अधिक बाध्य वा ऋणी होता है। परिचित हो चाहे अपरिचित हो, शत्रु हो अथवा मित्र हो,

धनी हो या दरिद्र हो, पण्डित हो या मूर्ख हो, हम लोग एक बात के लिए सबके निकट सम भाव से ऋणी हैं। उसी तरह और लोग भी हमारे निकट ठीक उसी बात के हेतु ऋणी हैं। जो ऋण हम लोगों के जन्म काल से आरम्भ होकर उम्र के साथ ही बढ़ता है, उसी ऋण का नाम शिष्टाचार है। हम लोगों को इस ऋण से उद्धार पाने की सर्वदा चेष्टा करनी चाहिए। जब तक हम लोग शुद्ध हृदय से शिष्टाचार न करेंगे तब तक ऋण के भार से दबेही रहेंगे।" बाध्यबाधक भाव को भी शिष्टाचार के अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

तीसरा परिच्छेद ।

दरिद्रान् भर कौन्तेय मा प्रयच्छेश्वरे धनम् ।
व्याधितस्यौषधं पथ्यं नीरुजस्य किमौषधैः ॥ १ ॥
उपकर्तुं प्रियं वक्तुं कर्तुं स्नेहमकृत्रिमम् ।
सज्जनानां स्वभावोऽयं केनेन्दुः शिशिरीकृतः ? ॥ २ ॥
उपकर्तुमप्रकाशं क्षन्तुं न्यूनेष्वयाचितं दातुम् ।
अभिसन्धातुं च गुणैः शतेषु कश्चिद् विजानाति ॥ ३ ॥

भावार्थ—दरिद्रों को धन देना चाहिए, धनवानों को धन देने से क्या फल ! जो रोगी है उसी को दवा देनी चाहिए नीरोग को औषध देना वृथा है ॥ १ ॥

सबका उपकार करना, मधुर वचन बोलना, सब पर प्रेमभाव रखना, सज्जनों का स्वाभाविक गुण है । चन्द्रमा स्वभाव से ही शीतल है ॥ २ ॥

अप्रकटरूप से उपकार करना, आश्रितों पर क्षमा की दृष्टि रखना, कुछ न माँगने पर भी दरिद्रों को दान देना, और सद्गुणों के साथ प्रीति करना सौ में विरला ही कोई जानता है ॥ ३ ॥

दोहा

मधुर वचन बोलो सदा करो न मन अभिमान ।
क्षमा दया भूलो नहीं जो चाहो कल्यान ॥ १ ॥
अधम जनहु पै साधु गन करैं दया विस्तार ।
निज प्रकाश नहिं देत कै ? चन्द्र श्वपच आगार ॥ २ ॥

सदय-दान ।

संसार में जो लोग इतना दान कर रहे हैं, डंके की चोट से अपने दान का सुयश चारों ओर फैला रहे हैं, प्रति रविवार को भिखारियों के कोलाहल से जो सारा महल्ला गूँजने लगता है, यह किस लिए ? कभी कभी छपे हुए पत्रों में जो दान का बहुत बड़ा प्रशंसा-सूचक लेख देखने में आता है, इस का क्या प्रयोजन ? इससे क्या दाताओं की दया पूर्णरूप से प्रकट होती है ? यदि यही सच है, तो दहने हाथ से भीख देने के समय बाये हाथ में लाठी क्यों ? याचकों की प्रार्थना पूरी करते समय भौंहें टेढ़ी करके कठोर वचन बोलने का ही क्या प्रयोजन ? तुम रूखे मन से, आँखें लाल कर, क्रोधपूर्वक जो दान करते हो उस दान से क्या याचकों का मन प्रसन्न होता है ? अप्रसन्न-चित्त से जो दान किया जाता है, उसे ग्रहण कर याचक प्रसन्न नहीं होता, उसके हृदय में व्यथा होने लगती है। वह जी खोल कर दाता की कृतज्ञता प्रकाश नहीं कर सकता । वह तुम्हारा घृणित दान ग्रहण करने के समय कब तुम्हारा सहास्य मुँह, दया से भरी हुई आँखें, मधुर मूर्ति को मन ही मन ध्यान करके परम पिता परमेश्वर के निकट तुम्हारी मङ्गल-कामना करेगा ! हाँ, इतना निश्चय जानो कि वह अपनी दरिद्रता को बार बार धिक्कार देकर तुम्हारे क्रोध-सूचक रक्त-नेत्र और भयङ्कर

मूर्ति का चित्र हृदय में धारण अवश्य करेगा और जब जब तुम्हारा वज्रोपम वचन का उसे स्मरण होगा तब तब उसका भग्न हृदय काँप उठेगा। अब तुम स्वयं विचार सकते हो कि इन दोनों प्रकार के दानों में अच्छा कौन है। यदि तुम सच्चा सुख पाने की इच्छा रखते हो, यदि तुम दूसरे के मनो-मन्दिर में विहार करना चाहते हो और सारे संसार को अपना बनाया चाहते हो तो अभिमान त्याग कर विनय सहित मीठी बात बोलने का अभ्यास करो। मधुर वचन के साथ दान करने से दाता का पुण्य बढ़ता है और दान लेने वाले का भी मन प्रसन्न होता है। मनुष्यों के लिए मधुर भाषण एक वह प्रधान गुण है जिससे संसार के सभी लोग सन्तुष्ट हो सकते हैं, अतएव मनुष्य मात्र को प्रिय-भाषी होने का प्रयत्न करना चाहिए।

प्रियवाक्यप्रदानेन सर्वे तुष्यन्ति जन्तवः।
तस्मात् प्रियं च वक्तव्यं वचने का दरिद्रता ॥ १ ॥

चाणक्य० ।

ऐसी बोली बोलिए मन का आपा खोय।
औरहु को शीतल करै आपहु शीतल होय ॥ १ ॥
कागा का सों लेत है कोयल का को देत।
तुलसी मीठे वचन में जग अपनो कर लेत ॥ २ ॥

जनाब इब्राहिम ख़ाँ का नियम था कि जब तक वे भूखे अतिथि को भोजन न करा लेते थे तब तक आप जल-स्पर्श तक नहीं करते थे। एक दिन बरसात के मौसिम में झड़ी अधिक होने के कारण एक भी अतिथि उनके यहाँ न आया। वे सारे दिन भूखे रहे। आख़िर शाम को उन्होंने अतिथि को ढूँढ़ कर ले आने के हेतु अपने नौकरों को चारों ओर भेजा और ख़ुद भी अतिथि की तलाश में बाहर निकल कर इधर उधर घूमने लगे। उन्होंने देखा कि सामने एक अत्यन्त वृद्ध, जिसके दाढ़ी मूँछों के बाल बिलकुल सफ़ेद हैं, वृष्टि की झड़ी में पड़कर थर थर काँप रहा है। वे उस वृद्ध के पास जाकर दया से द्रवित होकर बोले—"महाशय, आप कृपा करके आज मेरे घर आतिथ्य ग्रहण करें।" वृद्ध प्रसन्नता-पूर्वक उनका निमन्त्रण स्वीकार कर उनके घर गया। इब्राहिम ख़ाँ के नौकरों ने अतिथि को बड़े आदर से बैठने को आसन दिया। जब वह वृद्ध हाथ पाँव धोकर आसन पर बैठा तब वे नौकर उसके आगे भोजन की सामग्री परोसने लगे। जनाब इब्राहिम ख़ाँ उस अतिथि के सामने आ खड़े हुए। जब सब सामग्री परोसी जा चुकी तब वह वृद्ध भोजन करने लगा। किन्तु ईश्वर को बिना धन्यवाद दिये, बिना ईश्वर का नाम स्मरण किये उसे भोजन करते देख इब्राहिम अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे और बोले—

"तुम्हारा यह कैसा व्यवहार है? जिनकी कृपा से तुम्हें यह मधुर अन्न खाने को मिला है, तुम उन्हें बिना धन्यवाद दिये ही कुत्ते की तरह खाने लगे। तुम में वृद्ध की सी समझ नहीं देख पड़ती।"

इसके उत्तर में वृद्ध ने कहा—"मैं नास्तिक हूँ।"

उसका ऐसा उत्तर सुनकर इब्राहीम का सर्वाङ्ग क्रोध से जल उठा। उन्होंने तुरंत उसे अपने घर से बाहर कर दिया। तब इब्राहिम के हृदय में देववाणी हुई—"हे इब्राहिम! मैंने जिसको यत्न-पूर्वक अन्न देकर इतनी बड़ी उम्र तक बचा रक्खा है तुम उसे घड़ी भर भी अपने यहाँ न ठहरा सके और तुमने उसके साथ इतनी घृणा की। वह नास्तिक था, एतदर्थ तुमने दान से अपना हाथ क्यों खींचा?

इब्राहिम अपनी भूल समझ कर पछताने लगे।

(वामाबोधिनी पत्रिका)

बहुतों को यह धारणा है कि जिसको मैं दान दूँगा उससे दो बात कहने का भी मेरा अधिकार है। पर यह बात ठीक नहीं। जब हम दान करने चले हैं तब शिष्टाचार की बात क्यों भूलेंगे? दरिद्र को धन देने और भूखे को अन्नदान करने के लिए जाकर यदि तुम्हारे हृदय ने कठोरता धारण की अथवा दुखियों का दुःख देख कर तुम उत्तेजनावश तत्काल दान करके पीछे पछताने लगे तो ऐसे दान से दान

न करना ही अच्छा है। जो दान दयापूर्वक नहीं किया जाता उससे कोई महत्त्व प्रकट नहीं होता वरन् नीचता ही प्रकट होती है। इसलिए तुम जो कुछ किसी को दान दो, प्रसन्न मन से दो, दान करने के समय विनय का भी स्मरण रक्खो।

दया से बढ़कर कोई धर्म नहीं।

जिसके हृदय में दया नहीं, वह मनुष्यों के समाज में रहने योग्य नहीं है। दूसरे का दुःख दूर करने की ओर जिसके चित्त की प्रवृत्ति नहीं है, दूसरे की आँखों में आँसू देख जिसकी आँखों में आँसू न भर आये, दूसरे की विपद देख जिसका हृदय दुःख से व्याकुल न हो उठा ऐसे कठोर हृदय के मनुष्य, ऐसे स्वार्थपरायण, ऐसे समाज के काँटे जन-मण्डली से जितनी ही दूर अलग रहें उतना ही अच्छा है।

कितने ही ऐसे ज्ञानगर्विष्ठ वृथाभिमानी हैं जो देश, काल और पात्र का विचार करके दया या सुजनता दिखलाते हैं। लोगों में पीछे उनकी निन्दा होने लगती है, उनके निर्मल चरित्र और पवित्र नाम में कलङ्क लग जाता है, उनका उच्च मस्तक झुक जाता है, और उनके हृदय में अशान्ति छा जाती है।

जो देश काल और पात्र का विचार करके दया या सुजनता दिखलाते हैं। वे इस भय से सर्वदा शङ्कित रहते हैं कि

पीछे कहीं लोग हमारी निन्दा न करें, हमारे निर्मल चरित्र और पवित्र यश में कहीं कलङ्क न लग जाय, हमारा उन्नत मस्तक नीचे की ओर न झुक जाय। वे जो कुछ करते हैं यश पाने के लिए। जिस कर्तव्य पालन में उन्हें यश पाने की आशा न होगी उसे वे क्यों करेंगे? किसी कंगाल को अपने हाथ से एक मुट्ठी अन्न देते वक्त. वे चारों ओर एक बार चकितनेत्र से देखकर उसी घड़ी अन्तर्धान हो जायँगे। भूखे को एक मुट्ठी अन्न देना वे यशस्कर नहीं समझते इसी से उन्होंने बिना उसे कुछ दिये छिप रहने ही में अपना बड़प्पन समझा। रास्ते में कोई छोटे कुल का मनुष्य असहाय अवस्था में गिरा पड़ा है। उसकी सहायता करना तो दूर की बात है उन्हें उसके साथ बात करने, उसके दुख का हाल पूछने में बड़ी लज्जा हो आती है। माने ऐसा छोटा काम करने से लोगों में उनका सम्मान घट जायगा। उन्हें लोग बेवक़ूफ़ समझेंगे। इसी से वे बेचारे मर्यादा के सागर ऐसा निन्दित कर्म करना नहीं चाहते। यह न समझना चाहिए कि इन लोगों में सब निर्दय ही होते हैं, इन लोगों में कितनों ही के हृदय में दया का बीज अवश्य है किन्तु वह बीज अभिमानवश अंकुरित होने नहीं पाता। जो संकट में पड़ा है उसे उससे छुड़ाना, दरिद्रों की पर्णकुटी में प्रवेश कर प्यास से मरते हुए किसी व्यक्ति के सूखे कण्ठ में एक चुल्लू जल डालना अथवा उसके साथ सहानु-

भूति प्रकट करके उसके आँसू पर आँसू बरसाना, जो मनुष्य दुर्भिक्ष से पीड़ित होकर अनाथ की तरह धरती पर लेटा पड़ा है उस अचेतन अस्थिचर्मावशिष्ट मरणोन्मुख दीन मनुष्य के मुँह में अन्न डालना कदापि निन्दित कर्म नहीं है, ऐसे काम करने वाले की निन्दा न होकर सर्वत्र प्रशंसा ही होती है, बल्कि इस दयालुता के कारण लोग उसे दया का अवतार मान उसकी पूजा करने के हेतु स्वतः प्रवृत्त होते हैं। किन्तु हा दुर्भाग्य, अभिमान और लोकलज्जा का भय लोगों को ऐसे काम करने से रोकता है। इसे कुसंस्कार के सिवा और क्या कह सकते हैं? जैसे कोई आदमी विशेष उपकार करके किसी असहाय के भग्न हृदय को प्रसन्न करता है वैसे ही उसे चाहिए कि सत्कर्म के मार्ग में सामाजिक हानिकर कुसंस्कार कण्टकों का समावेश न होने दे। मान लो, किसी कारण से दया के अधीन हो कर हम एक अच्छा काम करने के लिए उद्यत हुए पर लोक-लज्जा वा समाज-निन्दा के भय से हम उसे कर न सके। हृदय की बात हृदय में ही विलीन हो गई। इस प्रकार निर्दय और अशिष्टव्यवहार की बात सोच कर हम लोग मन ही मन अपने को बार बार धिक्कारते हैं सही, किन्तु शिष्टता का काम आ पड़ने पर उसे पूरा नहीं करते। उस समय पश्चात्ताप की बात बिलकुल भूल जाते हैं।

दया के अवतार

हम लोगों में दयागुण से भूषित कितने ही व्यक्तियों ने मातृभूमि का मुख उज्ज्वल किया। कितनों ही ने सत्कर्म्म में असंख्य दान देकर अपनी उदारता दिखलाई है। निःस्वार्थ दान के बल से कितने ही हम लोगों में प्रातःस्मरणीय हो गये हैं। किन्तु दयावतार कहने से विद्यासागर महाशय का ही बोध क्यों होता है यह मैं नहीं कह सकता। और लोग उन्हें जैसा कुछ समझें पर देशवासियों के निकट विद्यासागर महाशय दया के अवतार ही कहा कर विशेष परिचित हैं। स्वदेशवासियों के समीप उन की दया का नवीन परिचय न देना होगा। उनके जीवनचरित में पाठकगणों ने उनकी असीम दया के अनेक वृत्तान्त पढ़े ही होंगे। उनकी दया केवल अपनी ही जाति पर न होकर सब पर समान थी। फ़्रांस में जा कर निवास करने के समय बँगला के प्रसिद्ध कवि माइकेल मधुसूदनदत्त ने विपदग्रस्त होकर जब अपने स्वदेशीय बन्धु-बान्धवों से सहायता पाने की आशा छोड़ दी तब भी उनके हृदय में एक व्यक्ति से साहाय्य मिलने की आशा जाग्रत थी। यदि उस व्यक्ति की सहायता से उन्हें वञ्चित होना पड़ता तो मेघनाद-वध और व्रजाङ्गना के कवि का आज कोई नाम तक न जानता। सारी निराशा में उन्हें यही एक भरोसा था कि विद्यासागर महाशय अभी

वङ्गदेश में विद्यमान हैं उनसे अवश्य ही सहायता मिलेगी। माइकेल उन्हें दया के अवतार ही करके जानते थे। जब उन्होंने अपनी रक्षा का कोई उपाय न देखा तब वे दया के अवतार विद्यासागर महाशय के शरणापन्न हुए। कहना न होगा, शीघ्रही उनका अभीष्ट सिद्ध हुआ। उन्होंने विपद के पंजे से छुटकारा पाया। विद्यासागर महाशय ने अपने सुख को तुच्छ समझ कर परोपकारव्रत में ही अपने जीवन का उत्सर्ग कर दिया था। वे अपने हाथ से दीन-दुखियों की आँखों के आँसू पोछते थे। शोकार्त को आश्वासन, भयार्त को अभय, भूखों को अन्न, निराश्रय को आश्रय, रोगी को औषध और दरिद्र को धन देते थे। जो स्वयं दीन जनों के घर जा जा कर उनकी खोज ख़बर लेते थे उन्हें कोई क्यों कर दया का अवतार न मानेगा? सन् १८६७ ई० के घोर दुर्भिक्ष के समय जब झुण्ड के झुण्ड लाखों स्त्री-पुरुष स्वजन समाज से रहित होकर अन्न के अभाव से घर छोड़ कर पेट की आग से व्याकुल हो पागल की तरह यत्र तत्र घूमने लगे थे, जब असंख्य नरनारियों की कङ्काल मूर्तियों से राजमार्ग भर गया था, जब "हा अन्न, हा अन्न" कह कर कितने ही निराहारी काल-कवलित हो रहे थे, उस समय दयावतार विद्यासागर ने ही बहुत धन ख़र्च करके बड़े ही उत्साह के साथ अन्नदान करके और इस प्राण-संहारी

दुर्भिक्ष के निवारणार्थ सरकार की दृष्टि आकर्षित कर लाखों नर-नारियों के प्राण बचाये । भारत देश के प्रत्येक स्थान में यदि विद्यासागर के समान एक एक व्यक्ति जन्म ग्रहण करते तो उस कराल अकाल का प्रकोप बहुत लोगों को सताने न पाता । दूसरे का दुःख देख कर जिनका हृदय द्रवित हो उठता था, जिनकी आँखों में आँसू उमड़ आते थे। समाज ने जिसे अस्पृश्य कर रक्खा था उसे समाज के मुकुट हो कर भी जिन्होंने आदरपूर्वक आश्रय दिया था अब तुम्हीं कहो, वे दया के अवतार थे या नहीं? तुम लोग इस आदर्श पुरुष का जीवनचरित पढ़ो और उनके पवित्र चरित्र से शिक्षा ग्रहण कर अपने हृदय को दया से अलंकृत करो। जब तुम्हारे हृदय में दया का प्रवाह प्रवाहित होगा तब तुम सारे संसार को अपने अधीन कर लोगे।

क्षमा और सदय व्यवहार से लोग शत्रु को भी अपने वश में कर सकते हैं।

चीन राज्य में किसी समय राजधानी से दूर एक स्थान में कुछ प्रजा विद्रोही हो उठी। चीन के बादशाह मन्त्रियों को साथ लेकर विद्रोहियों को दबाने चले। उन्हें स्वयं उपस्थित होते देख विद्रोहियों ने तुरंत अपना अपराध

स्वीकार कर लिया। विद्रोह का संवाद पाकर बादशाह ने यह कह कर यात्रा की थी कि "विद्रोहियों का नाश करके ही लौटूँगा" इस कारण सब मन्त्री सोचने लगे कि बादशाह इस समय विद्रोहियों के लिए ज़रूर कोई कठोर दण्ड की आज्ञा देंगे। किन्तु बादशाह ने उन लोगों का अपराध एकदम क्षमा कर दिया और कितनों ही के साथ सुजनता का भी व्यवहार किया। उनका ऐसा दयायुक्त व्यवहार देख कर मन्त्रिगण बड़े ही विस्मित हुए। यहाँ तक कि प्रधान मन्त्री ने क्षुब्ध हो कर सम्राट् को प्रतिज्ञा की बात स्मरण दिला कर कहा—"क्या आप इन विद्रोहियों का विनाश न करेंगे! चलने के समय आपने क्या प्रतिज्ञा की थी? अभी इन लोगों पर इस प्रकार सदय व्यवहार करने से क्या आप के सत्य की रक्षा होती है? सम्राट् ने मुसकुरा कर कहा—"मेरा कथन सत्य हुआ। मैंने शत्रुनाश करने की बात कही थी, देखो यहाँ मेरा एक भी शत्रु नहीं, अब सभी मेरे मित्र हो गये हैं।" मतलब यह कि जो काम अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा सिद्ध नहीं होता वह कोमल व्यवहार से शीघ्रही सिद्ध हो जाता है।

तुम्हारा कोई पड़ोसी यदि दुर्जन है तो उसके साथ तुम सर्वदा सदय व्यवहार करो उसके सभी अपकारों को भूल कर उसके दुःख के दिनों में उसकी सहायता करो, वह भले ही तुम्हारे साथ शत्रुता करे पर तुम उसके साथ

हमेशा मित्र का सा व्यवहार करो । कुछ दिन में वह आपही आप लज्जित हो कर अपना स्वभाव बदल कर तुम्हारे साथ सच्ची मित्रता करने लग जायगा । धीरे धीरे उसका कठोर हृदय कोमलता धारण करेगा, दिन दिन उसके उद्धत भाव का ह्रास होगा और उसका कठोर कण्ठस्वर क्रमशः मधु-वर्षण करने लगेगा । व्यवहार के दोष से जैसे अपना आदमी पराया हो जाता है वैसे ही व्यवहार गुण से कट्टर शत्रु भी मित्र बन जाता है ।

तुम लोगों ने क्या कभी वैष्णवों के शिरोमणि महात्मा नित्यानन्द देव की असीम क्षमा, उदारता, मधुर भाषण और देव-दुर्लभ प्रेम की बात नहीं सुनी है ? वङ्ग के अति प्रसिद्ध दुर्दान्त डाकू जगाई और मधाई दोनों भाईयों ने नित्यानन्द जी के प्रेमगुण से मुग्ध हो कर घड़ी भर में ही अपने दुष्ट स्वभाव को बदल डाला । उन दुष्ट डाकुओं ने बड़ी निर्दयता के साथ उनपर अस्त्रप्रहार कर उन्हें रुधिराक्त कर डाला था । किन्तु क्षमासागर प्रेमिक निताई ने जब प्रसन्न मन से आदर-पूर्वक उन डाकुओं को लपक कर गले से लगाया तब उनके इस कोमल व्यवहार से उन डाकुओं का वज्रवत् कठोर हृदय पानी पानी हो गया । देखो, महात्मा के क्षणिक संग से वह अशान्त, दुश्शील, असाधु और मनुष्यों का परम शत्रु डाकू कैसा धीर, सुशील, सुजन और संसार का बन्धु बन गया ।

नौकरों के साथ कैसा व्यवहार करना उचित है।

कितने ही लोग यह समझते हैं कि नैाकरों के साथ शिष्टाचार या सदय व्यवहार करने से वे स्वेच्छाचारी और वेअदब हो जाते हैं। जिनको रुपया दे कर हमने अपने आराम के लिए रक्खा है उनके साथ शिष्टाचार का बर्ताव कैसा? उनका चाल चलन अच्छा न होगा या वे अपना काम अच्छी तरह न करेंगे तो उन्हें अवश्य दण्ड देंगे। बहुत जगह प्रायः लोग नैाकरों के साथ ऐसा ही व्यवहार किया करते हैं। सत्पात्र नैाकरों के साथ भी वे वैसा ही बर्ताव रखते हैं जैसा कि एक अशिष्ट चोर, वञ्चक भृत्य के साथ। वे नैाकरों की ओर जब देखेंगे तब कड़ी ही दृष्टि से, नैाकरों के लिए उनकी भैांं हमेशा चढ़ी ही रहेंगी। नैाकरों के साथ मधुर भाषण करना माने वे अपनी लघुता समझते हैं। नैाकरों पर दया दिखलाना माने उनके लिए महापाप है। यहाँ तक कि वे अपना रोब जमाने के लिए निरपराधी नैाकर को भी कठोर वचन कहने या उसके ताड़न करने में परम पुरुषार्थ समझते हैं। क्या नैाकरों के साथ ऐसा निर्दय और कठोर व्यवहार करने से उनका महत्त्व बढ़ता है? कभी नहीं। बल्कि ऐसा करने से फल उलटाही होता है। ऐसे दुर्विनीत मालिक पर

नौकरों की भक्ति, श्रद्धा और ममता का ह्रास हो जाता है। और वे अपमानित भृत्यगण अपने अपमान का बदला चुकाने के लिए मालिक के विरुद्ध भाँति भाँति के षड्यन्त्र रचा करते हैं। अँगरेज़ों में स्वजाति-वत्सलता यहाँ तक प्रबल है कि परस्पर एक दूसरे पर अनुराग और सहानुभूति प्रकट करते हैं। अपनी जाति को वे कभी निन्द्य नहीं समझते। भारी से भारी अपराध हो जाने पर भी वे अपने सजातीय भृत्य को कठोर दण्ड देना उचित नहीं समझते। किन्तु हमारे देश में लोग बात बात में विजातीय हों चाहे सजातीय नौकर-नौकरानियों का तिरस्कार करते हैं और कभी कभी चपेटा-घात से भी उनकी ख़बर लेते हैं। मालिकों के अशिष्ट व्यवहार से ही नौकरों का स्वभाव क्रमशः बिगड़ जाता है और वे भी अपने मालिकों के साथ छिपे छिपे अशिष्टता का काम करने लग जाते हैं।

स्वर्गीय भूदेव मुखोपाध्याय महाशय के साथ किसी एक सज्जन कुलीन व्यक्ति का घनिष्ठ परिचय था; वे लोगों से कहा करते थे कि उनके यहाँ के नौकर प्रायः कभी कुछ चोरी नहीं करते थे। रुपया-पैसा, या गहना जब कभी कहीं पड़ा पाते थे तब झट वे मालिक के सामने लाकर रख देते थे। एक दिन उनकी गृहिणी उनसे कह रही थी, "मैं समझती हूँ कि नौकर लोग बालकों की अपेक्षा भी अधिक दयापात्र हैं। लड़के

बराबर हमारे आप के पास रहते हैं, वे जब जो चाहते हैं, पाते हैं। हम लोग बराबर उन्हें सुखी रखने की चेष्टा करते हैं। वे जब बीमार होते हैं तब हम उनके पास से उठना तक नहीं चाहती। नौकर बीमार होने पर कष्ट के मारे अधीर होकर जब बाप बाप कह कर चिल्लाता है तब उसके रक्षार्थ मा-बाप थोड़ेही उसके पास आते हैं? उस समय उस के साथ हमीं लोगों को माँ-बाप का सा आचरण करना चाहिए। नौकर पर पूरा विश्वास होने पर तुम बहुत ख़ुश होते हो तो उसके साथ संदूक़ की कुञ्जी सौंपते हो किन्तु वह तुम्हारी दया के भरोसे अपने प्राण तक को तुम्हें सौंप देता है।"

मुखोपाध्याय महाशय के घर में नौकरों का काम बँटा था। सब अपने अपने निर्दिष्ट कामों को बड़ी सुघराई से किया करते थे। उन में जब कभी कोई बीमार होता था अथवा छुट्टी लेकर घर जाता था तब उसका काम दूसरे नौकर अपनी ख़ुशी से आपस में थोड़ा करके बाँट लेते थे; उसके लिए ख़ास कर दूसरे नौकर रखने की ज़रूरत नहीं पड़ती थी। छुट्टी का वेतन नौकरों का नहीं काटा जाता था। बीमार होने पर दवाई और पथ्यपानी के लिए नौकरों को मालिक की ओर से ख़र्च मिलता था। अपने नौकरों को वे कभी ख़ैराती औषधालय में नहीं जाने देते थे। उनके

यहाँ एक भी नौकर चोर अथवा मिथ्यावादी न था। अपने मालिक के साथ नौकर सर्वदा निश्छल व्यवहार रखते थे।

जिनकी अवस्था ऐसी नहीं है, जो किसी का विशेष उपकार कर सकें, उन्हें इतना तो ज़रूर चाहिए कि दो मीठी बातें बोल कर ही दूसरे को आप्यायित करें। "वचने का दरिद्रता"।

स्वामित्व ।

किसी जंगल में चिड़ीमार ने पक्षियों को फँसाने के लिए जाल फैला कर चावल बखेर दिये। चावल चुगने के लिए कितने ही कबूतर उस जाल के भीतर जाकर बैठे और उसमें फँस गये। जब उसमें से निकलने का कोई उपाय न देखा तब वे कबूतर जाल लेकर उड़े। उन कबूतरों के प्रधान चित्रग्रीव अपने आश्रितों को विपद से छुड़ाने की इच्छा से अपने मित्र हिरण्यक नाम चूहे के पास गया।

दोनों मित्रों में परस्पर प्रिय सम्भाषण होने के बाद वह चूहा चित्रग्रीव के सम्मुख आया और कुछ देर विस्मित हो कुछ न बोला; ततः पर उसने पूछा—"मित्र यह क्या?"

चित्रग्रीव—"यह हम लोगों के विना विचारे काम करने का फल है।" यह सुन कर हिरण्यक चित्रग्रीव का बन्धन

काटने को उद्यत हुआ। तब चित्रग्रीव ने कहा—"मित्र, ऐसा न करो, पहले इन आश्रितों का बन्धन काट कर इनकी प्राण-रक्षा करो, पीछे मेरा बन्धन काटो।"

हिरण्यक ने कहा—"मेरे दाँत कमज़ोर हैं, मुझ में इतनी शक्ति नहीं जो सबका बन्धन काट सकूँ। अतएव मैं पहले तुम्हारा बन्धन काट कर यथासाध्य औरों का भी बन्धन काटूँगा। इन सबों का बन्धन काटते काटते मेरे दाँत बिलकुल टूट जायँगे तब फिर तुम्हारा बन्धन कैसे काटूँगा।"

चित्रग्रीव—"मित्र, यह बात तुमने सच कही है। किन्तु पहले जहाँ तक तुम से हो सके इन्हीं का बन्धन काटो, मैं किसी तरह अपने आश्रितों का दुःख नहीं देख सकता। ये कबूतर बिना द्रव्य के मेरे आश्रित बने हैं। अतएव अपना प्राण गवाँ कर भी इनकी रक्षा करना मेरा धर्म है।"

यह सुन हिरण्यक आनन्द से पुलकित होकर बोले—"मित्र तुम धन्य हो। आश्रितों पर जैसा तुम्हारा वात्सल्य प्रेम है, उस गुण से तो तुम तीनों भुवन का आधिपत्य पाने योग्य हो।" यह कह कर उसने सब कबूतरों के बन्धन काट डाले।

नौकरों के साथ मालिक को जैसा शिष्ट व्यवहार करना उचित है। वैसेही आश्रयदाता को अपने आश्रितों के साथ करना चाहिए। यह समझ कर कि ये हमारे आश्रित हैं इन

के साथ जो चाहेंगे व्यवहार करेंगे, यथेच्छ आचरण करना बड़ाही अनुचित है। जो तुम्हारा मुँह देख कर धैर्य्य धारण किये रहता है; जो तुम्हारे हित-साधन के लिए प्राण तक देना चाहता है; जिनको आश्रय देने ही के कारण तुम्हारी प्रभुता सार्थक हो रही है, उन आश्रितों की रक्षा करनाही तुम्हारा परम धर्म है। आश्रितगणों की रक्षा करना जैसा आवश्यक है वैसेही उनके दोषों का संशोधन करना भी न्यायसंगत है। आश्रित कोई अपराध करे तो उसको दण्ड देना अनुचित नहीं है किन्तु निष्कारण आश्रितों को सताना महापाप है। आजकल आत्माभिमान और स्वार्थ-परता की मात्रा इतनी बढ़ी है कि बात बात में आश्रितगण सताये जाते हैं। अपराध कोई करे पर सज़ा पावेंगे अधीन-व्यक्ति ही। आश्रितों के असत् कार्य्य पर उपयुक्त शासन और सत्कार्य पर पुरस्कार इन दोनों को उचित रीति से प्रयुक्त होते तो बहुत ही कम देखने में आता है। जो प्रभु शक्तिसम्पन्न और उदारचेता हैं, वे अपने आश्रितों को, वे किसी अवस्था में क्यों न हों, संकट से बचाने के लिए अपनी जान तक की कुछ परवा नहीं करते। जिस नीति और धर्म-बल से राजा प्रजागणों का पालन करके राज्यशासन करते हैं; सेनापति सैन्यगणों की रक्षा में तत्पर रहते हैं, गृहपति परिवार का पालन करते हैं, माँ अपने बच्चों को पालती है

और गृहस्वामिनी अपनी बहू-बेटियों की रक्षा करती हैं उसी एक नीति और धर्म के नियम पर सब जातियों में, सब संप्रदायों में, छोटी बड़ी सब श्रेणी के मनुष्यों में आश्रित जन भी रक्षा पाते हैं। आश्रितों के पालन का व्यवहार पशु-पक्षियों तक में भी पाया जाता है। जब वे झुंड बाँध कर जंगल में फिरा करते हैं तब उनमें जो प्रधान की तरह सबके आगे रहता है उसका ध्यान हमेशा अपने अनुयायियों पर रहता है, विपद की आशङ्का देखकर वह अपने आश्रित अनुयायियों को छोड़कर भागता नहीं, बल्कि उस समय उसका तेज, साहस, विपद से उद्धार पाने का कौशल और अपने दल में किसी का अनिष्ट न हो यह सोच कर उस तरफ़ साकांक्ष दृष्टि रखना, चित्त को चकित कर देता है। उसकी ऐसी न्यायपरता के साथ आश्रितों की रक्षा का दृश्य देखकर आनन्द के साथही साथ आश्चर्य में डूबना पड़ता है।

न्यायपूर्वक प्रभुत्व करना ही प्रभु का धर्म है। कबूतरों के राजा चित्रग्रीव की बात जो पहले कही जा चुकी है आशा है तुम उसे उपकथा मात्र न समझ कर उससे शिक्षा ग्रहण करोगे।

आबूबन और स्वर्गीय दूत ।

मियाँ आबूबन हृदय के बड़े ही सच्चे थे। वे सबको समान दृष्टि से देखते थे। एक दिन की बात है, रात में वे सोये थे, आधीरात को जब उनकी आँखें खुलीं तब उन्होंने देखा कि सारे घर में उजाला हो रहा है और उस उजाले में प्रफुल्ल कमल सा एक अत्यन्त सुन्दर देवदूत सुनहरी पुस्तक में कुछ लिख रहा है। आबूबन तो निष्पाप थे। उन्हें ऐसा आश्चर्य दृश्य देख कर ज़रा भी डर न हुआ। उन्होंने निर्भय होकर पूछा—"आप इस पुस्तक में क्या लिख रहे हैं ?"

उस देवदूत ने धीरे से उनके कानों में कहा—"संसार में जो लोग ईश्वर को हृदय से प्यार करते हैं मैं उन्हीं लोगों के नाम इस वही में लिखता हूँ ।"

आबूबन ने कोमल स्वर में कहा—"क्या मेरा नाम भी लिखा है ?" देवदूत ने हँस कर कहा—"नहीं ।"

तब आबूबन ने विनयपूर्वक कहा—"नहीं लिखा है तो इतना लिख लो, आबूबन सब मनुष्यों को अपनाही सा जान कर प्यार करता है।" यह सुन कर देवदूत अलक्षित हो गया। हाय, आबूबन का नाम उस पुस्तक में न लिखा गया ! दूसरी रात वह देवदूत फिर आबूबन के पास अपना तेज प्रकाश करता हुआ आ पहुँचा। उसने वह सुनहरी वही

आबूवन की नज़र के सामने रख दी। आबूवन ने देखा, जितने महात्माओं के नाम उस बही में लिखे थे सबसे पहले आबूबन का ही नाम लिखा था। यह देख कर आबू-बन को आनन्द की सीमा न रही।

क्या तुम लोग आबूबन के इस पवित्र चरित्र से कुछ शिक्षा-लाभ न करोगे? मनुष्य मात्र को हृदय से प्यार करना सीखो। जो सब मनुष्यों को प्यार करता है वह ईश्वर का प्यारा होता है।

चौथा परिच्छेद

रोगशोकपरीतापबन्धनव्यसनानि च ॥
आत्मापराधवृक्षाणां फलान्येतानि देहिनाम् ॥१॥

भावार्थ—रोग, शोक, सन्ताप, बन्धन और दुःख ये सब मनुष्यों के अपने अपराधरूपी वृक्ष के फल हैं ॥१॥

स्वयं न खादन्ति फलानि वृक्षाः
पिबन्ति नाम्भः स्वयमेव नद्यः ।
धाराधरो वर्षति नात्महेतोः
परोपकाराय सतां विभूतिः ॥२॥

वृक्षों के फल, नदियों का जल, मेघ की वृष्टि—जैसे ये चीज़ें स्वार्थ-सुख के लिए नहीं होतीं वैसे ही सज्जनों का धन अपने सुख-भोग के लिए न होकर दूसरों के उपकार के ही लिए होता है ॥२॥

दानाय लक्ष्मीः सुकृताय विद्या
चिन्ता परब्रह्मविनिश्चयाय ।
परोपकाराय वचांसि यस्य
वन्द्यस्त्रिलोकीतिलकः स एकः ॥३॥

जो धन को दान-निमित्त, विद्या को धर्म-निमित्त, चिन्ता को ब्रह्मविचार के निमित्त और वाणी को दूसरों के उपकार-निमित्त समझ कर चरितार्थ करते हैं वे संसार में किससे पूजित नहीं होते ? ॥३॥

वित्ते त्यागः क्षमा शक्तौ दुःखे दैन्यविहीनता ॥
निर्दम्भता सदाचारे स्वभावोऽयं महात्मनाम् ॥४॥

धन रहते दान, शक्ति रहते क्षमा, विपद में धैर्य और सदाचार में निरभिमानिता वही दिखलाते हैं जो महात्मा हैं ॥४॥

सत्पूरुषः खलु हिताचरणैरमन्द-
मानन्दयत्यखिललोकमनुक्त एव ।
आराधितः कथय केन करैरुदारै-
रिन्दुर्विकासयति कैरविणीकुलानि ॥५॥

जो सज्जन हैं वे विना कहे ही अपने उदार चरित्र से सबको आनन्द देते हैं । द्विजराज [चन्द्रमा] से किसने कब प्रार्थना की जो वह अपनी सुधामयी किरणों से आतपतत कुमुदिनी के हृदय का परिताप हरण करके उसे प्रफुल्लित करता है ॥५॥

भद्र मनुष्य

सांसारिक मनुष्यों को अनेक प्रकार के सामाजिक और राजकीय नियम पालन करने होते हैं । भिन्न भिन्न प्रकृति के मनुष्यों के साथ आचार-व्यवहार करना होता है । संसरा

में रह कर कोई यह चाहे कि हम सदा हरेक काम मीठी बातों से या विनय से ही सम्पन्न कर लेंगे यह हो नहीं सकता। मनुष्य एक दम क्रोधहीन शान्त, विनयी, और कोमल-हृदय होकर रहेगा यह नहीं हो सकता। और ऐसा होकर सर्वदा रहने ही से यदि कोई अपने को सच्चरित्र, शिष्ट या कर्तव्य-परायण मान ले, सो भी नहीं। समय के अनुसार कोमलता या कठोरता का व्यवहार करना समुचित है। मान लो, तुम कहीं जा रहे हो। रास्ते में तुमने देखा कि एक बलवान् पुरुष के द्वारा एक दुर्बल मनुष्य सताया जा रहा है अथवा कोई असहाया अबला डाकू से अभिभूत होकर आधी रात में सहायता के लिए रो रो कर पुकार रही है। ऐसे समय में यदि तुम क्षमाशील होकर उस बलवान् के अत्याचार पर कुछ न बोलो, उस अनाथिनी अबला को संकटग्रस्त देख उसकी कातर-प्रार्थना पर ध्यान न देकर अपनी शान्तशीलता प्रकट करो तो जान लो कि तुम निस्सन्देह क़ायर हो, तुम्हारी वह क्षमाशीलता, और शान्त स्वभाव ही तुम्हारे चरित्र को कलङ्कित कर रहे हैं। किन्तु उस हृदयद्रावक दुर्नीति व्यवहार को देख कर यदि तुम्हारा रक्त गरम हो उठे, क्षमा की जगह क्रोध उत्पन्न हो और उपेक्षा की बात न सोच कर उस असहाय की सहायता के लिए उद्यत हो जाओ तो तुम यथार्थ में सत्पुरुष कहलाओगे।

क्रोध, क्षमा, दया, शासन, विनय, अपेक्षा आदि सभी समय के अनुसार व्यवहार्य हैं। जो लोग समाज में सम्भ्रान्त या भद्र गिने जाते हैं उन्हें इन सब गुणों को उचित रीति से व्यवहार में लाना चाहिए।

युरोप देश में पहले "नाइट" उपाधिधारी एक सम्प्रदाय था। दुष्टों का दमन करना ही उसके जीवन का प्रधान लक्ष्य था। ये लोग अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित हो घोड़े पर चढ़ कर विपद-ग्रस्त नरनारियों के उद्धारार्थ बराबर इधर उधर घूमा करते थे। नाइट सम्प्रदाय के सभी लोग सुशिक्षित, उच्च वंशोद्भव और रणकौशल में एक से एक बढ़े चढ़े थे। वे अबलागणों को देवता की तरह मानते थे। इन नाइट सम्प्रदाय के सम्भ्रान्त व्यक्तियों की शूर-वीरता और साधुता के कितने ही दृष्टान्त युरोप के इतिहास में पाये जाते हैं। नाइट लोग केवल अपने बाहुबल से विख्यात हुए थे यह बात नहीं है; वे लोग राजभक्ति, साहस, बल, युद्ध-कौशल, बालक और स्त्रियों के प्रति स्नेह और श्रद्धा, पीड़ित व्यक्तियों का पक्षावलम्बन, अत्याचारियों के साथ युद्ध-तत्परता और पराजित शत्रुओं पर दया, बन्धुवर्गों पर विश्वस्तता, सत्यवादिता और चरित्र की निर्मलता आदि अनेक सद्गुणों के अधिकारी होकर प्रसिद्ध हुए थे। ये लोग 'नाइट' अर्थात् शूर कहला कर देशमान्य हो रहे थे। अब ऐसे बहुगुणान्वित पुरुषों का

कोई विशेष सम्प्रदाय न रहने पर भी कितने ही परोपकारी कर्तव्य-परायण सम्भ्रान्त व्यक्ति विशेष सम्मानसूचक नाइट उपाधि से भूषित किये जाते हैं। इन दिनों सरकार की सुवि-चार-पद्धति और सुशासन-प्रणाली के कारण दुष्टों को दबाने के लिए शूरसम्प्रदाय की आवश्यकता न रही इसी से वह सम्प्रदाय उठ गया। किन्तु जो सम्भ्रान्त हैं, जो समाज के सुधारक हैं, उन्हें उक्त सम्प्रदायवाले की गुणावली अवश्य प्राप्त कर लेनी चाहिए। जो लोग कर्तव्य-परायण हैं, साहसी हैं, दुखियों के सहायक हैं, बन्धुवत्सल हैं, क्षमाशील हैं, सच्चरित हैं और सत्यवादी हैं वे ही यथार्थ में सम्भ्रान्त वा भद्र कहलाने योग्य हैं। एक विख्यात लेखक ने कहा है कि सम्भ्रान्त होने के लिए अच्छे कपड़े या विलास की सामग्री आवश्यक नहीं है। भड़कीली पोशाक या बाहरी सजावट को सुन्दर स्वभाव नहीं कहते। भद्र मनुष्य कहने से इतना अवश्य समझना होगा कि वे शान्त, विनयी, सज्जन और उदार हैं। इस सिद्धान्त से कौन भद्र है और कौन अभद्र है इसका निर्णय सहज ही में हो सकता है। मनुष्यों के स्वभाव का परिचय उनकी बोली और व्यवहारों से पाया जाता है। केवल बाह्याडम्बर देख कर कोई किसी के स्वभाव को जल्दी नहीं परख सकता। क्योंकि बहुत से लोग "करतब बायस भेष मराला" के ही चरितार्थ करने वाले हैं। भद्र

पुरुषों के लिए स्वार्थपरता से बढ़ कर घृणोत्पादक अपराध दूसरा नहीं है। सुजनता या शिष्टता का ही नाम भद्रता है। सज्जन, शिष्ट, सभ्य, साधु ये सब भद्र के ही पर्य्यायवाचक शब्द हैं। इनमें किसी एक शब्द के अधिकारी होने ही से शिष्टवाची सभी शब्दों पर उनका अधिकार पहुँच जाता है। अशिष्टता के जितने कार्य हैं उनमें सबसे घृणित स्वार्थपरता ही है। माने शिष्टता और स्वार्थपरता में परस्पर विरोध है।

रेभरेंड चार्ल्स किंग्स्ली ने कहा है—"यदि ईश्वर से पाये हुए गुणों को एक ही साथ नष्ट करना चाहो, यदि तुम अपने ऊपर कष्ट उठा कर दूसरे को दुःखी करना चाहो तो इसके लिए मैं तुम्हें एक बहुत ही सुगम मार्ग बता देता हूँ— तुम स्वार्थी हो जाओ, स्वार्थी होने से तुम्हारा अभिलाष पूर्ण होगा। दूसरे प्रकार का दुर्व्यवसाय करने की कोई ज़रूरत न रहेगी। इसी एक स्वार्थता में सभी दुर्व्यवसाय भरे हैं। तुम अपने मन में एक वार सोच कर देखो—तुम्हें लोगों का कहाँ तक सम्मान करना चाहिए, और तुम्हारे विषय में उन लोगों की क्या धारणा है। इन सब बातों को जब तुम अच्छी तरह सोचोगे तब तुम्हें किसी में लेशभर सुख या सन्तोष न मिलेगा।" निःस्वार्थपरता के कामों में भी लोग अपने हिताहित की बात सोच लेते हैं। वे यह क्यों नहीं सोचते कि हम लोग दूसरे के लिए जो कर्तव्य समझते हैं

वह अपने लिए भी वैसाही समझें। जिन कामों को हम अपने लिए सुखद न समझें उन्हें दूसरों के लिए भी न समझें। इन दोनों प्रकार के कर्तव्यों में एक की अवहेला करने से दूसरे की अवहेला स्वतः होती है। जब तक दूसरे का उपकार अपना ही उपकार मान कर न करोगे, दूसरे का दुःख अपना दुःख न मानोगे तब तक निःस्वार्थपरता का उच्चपद प्राप्त न कर सकोगे। हम लोगों को अपने शरीर और मन की रक्षा बड़ी सावधानी से करनी चाहिए। इन दोनों की रक्षा के साथ ही साथ सत् कर्म्म का साधन हम लोगों का प्रधान कर्तव्य है। महर्षिगण जिन सब कामों के करने का उपदेश देते हैं, शरीर स्वस्थ रहने ही पर उन कामों को कोई कर सकता है। शरीर की अस्वस्थता में ठीक ठीक नियम का पालन नहीं होता। अतएव शरीर का स्वास्थ्य ठीक रहना भी आवश्यक है। कैसे ही बड़े विद्वान् क्यों न हों, अत्याचार के निवारण का सामर्थ्य न रख कर उपदेश मूलक सुन्दर सुन्दर श्लोकों को बार बार पढ़ा करें तो उससे सामाजिक कर्तव्य की रक्षा नहीं होगी। यहाँ अत्याचार के निवारण के लिए उपयुक्त शक्ति की आवश्यकता है। दुर्बल मनुष्य प्रायः स्वभाव के रूखे और कठोर-भाषी हुआ करते हैं। उनका संकीर्ण हृदय अच्छे कामों की ओर प्रवृत्त नहीं होता। उनका दुर्दम्य मनोवेग उनकी बोली और कण्ठ स्वर से

तुरत व्यक्त हो जाता है । ऐसे स्वभाव के मनुष्य कभी कभी भद्रता की सीमा पार करके पीछे आपही लज्जित होते हैं ।

अनेक कारणों से मनुष्य को आत्मरक्षा की ओर भी विशेष ध्यान रखना चाहिए । औरों का उपकार और अपनी रक्षा इन दो कामों के लिए दैहिकबल की बड़ी आवश्यकता है । जीवन अल्पकालीन है । और यह शरीर अनित्य है इसमें सन्देह नहीं; किन्तु यही सोच कर यदि शरीर की रक्षा न की जाय तो इस शरीर से दूसरे का उपकार कैसे हो सकता है । परोपकार करने, बहुज्ञता, और बहुदर्शिता प्राप्त करने तथा प्रकृति देवी की आज्ञा के अनुसार चलने के लिए अपनी रक्षा करना आवश्यक है । यदि जन्म लेकर और सांसारिक व्यापारों को देख कर तुम बहुदर्शिता नहीं प्राप्त कर सके, लोगों का कुछ उपकार न कर सके तो फिर जीवन धारण करने का क्या प्रयोजन ? मनुष्य-जन्म लेने का क्या फल ?

श्रीरामचन्द्रजी ने जब विजयलाभ किया तब रावण की माँ निकषा को भागते हुए देख कर कहा था--"अरी बूढ़ी, तुमने इतना पुत्र-शोक पाया, अपने पौत्र, प्रपौत्रादिकों की मृत्यु देखी तब भी तुम्हें अब तक अपने जीवन का मोह बना ही है ?" यह सुनकर निकषा ने कहा—"महाराज, मैं प्राण के मोह से आत्मरक्षा नहीं करती, तुम्हारी और भी अमानुषी

लीला देखने की लालसा है । जब जीती रहूँगी तब तो देखूँगी ।"

शरीररक्षा की ही ओर विशेष मनोयोग देकर मानसिक उन्नति की ओर ध्यान न देना भी ठीक नहीं। स्वास्थ्यरक्षा नितान्त आवश्यकीय है इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं, किन्तु स्वास्थ्यरक्षा की अपेक्षा भी अधिक प्रयोजनीय है चरित्ररक्षा। बिना मानसिक बल पाये चरित्र की रक्षा हो नहीं सकती, अतएव शारीरिक बल के साथ ही साथ मानसिक बल भी प्राप्त करना चाहिए। संसार में आमद ख़र्च के हिसाब पर सूक्ष्मदृष्टि रखनेवाले लोग बहुत हैं, पर स्वास्थ्यरक्षा पर दृष्टि देनेवाले लोगों की संख्या अल्प है। प्रथम श्रेणी के लोग (देहाभिमानी) बड़े ही स्वार्थी होते हैं, वे अपने हानिलाभ की चिन्ता में ही जीवन व्यतीत करते हैं। उनका हृदय ऐसा संकीर्ण होता है कि वे सामान्य कारण की बातों में भी सुख-दुःख पाये बिना नहीं रहते । थोड़े ही में उन्हें आकाश-पाताल का अनुभव होने लगता है। बात बात में उन्हें विपदस्थ होने का भय बना रहता है। दूसरी श्रेणी के लोग स्वास्थ्यपूर्वक रहने में सुख और किसी तरह का गड़बड़ होने पर दुःख का अनुभव करने लगते हैं। उनके मन में दिन रात यही चिन्ता बनी रहती है कि हम नीरोग कैसे होंगे, हमारे शरीर में कान्ति और तेज की वृद्धि कैसे होगी, हमारा

जठराग्नि तीव्र कैसे होगा और कैसे हम बलिष्ठ होंगे। ज्यों ज्यों उनकी उम्र बढ़ती है त्यों त्यों उनके मन की चिन्ता भी बढ़ती जाती है। कोई रोग उन्हें दबा न ले इसका भय उनके जी में हमेशा बना रहता है। इस श्रेणी के लोग औरों के सुख दुःख पर ध्यान न दे कर अपने शरीर को पुष्ट रखना और आराम से रहना ही कर्तव्य की इतिश्री समझते हैं। उनकी धारणा है कि ईश्वर ने सांसारिक सुख भोगने ही के लिए उन्हें मनुष्य बनाया है। इसी से दिन रात वे अपने सुख के लिए हाय हाय करते हैं। ये सब संसार के अनिष्टकारी कामकिङ्कर, स्वार्थलोलुप लोग यह नहीं जानते कि मनुष्यता किसे कहते हैं। इन लोगों के कुरुचिपूर्ण दृष्टान्त से कितने भोले भाले नर-नारीगण ठगे जाते हैं इसकी संख्या नहीं। संसार में धन और प्राण दोनों रक्षणीय हैं। यथासाध्य इन की रक्षा करनी ही चाहिए, किन्तु धन संग्रह में ही जीवन को समर्पण कर देना अथवा अनित्य शरीर के सुखसाधन में ही बराबर लगे रहना ईश्वर की आज्ञा के अनुकूल नहीं है। जो क्षणस्थायी है उस पर विशेष ध्यान न दे कर जो चिर-स्थायी है, जो अविनाशी है उसी पर विशेष ध्यान देना और उसे पाने के लिए सयत्न होकर अपना तन मन धन अर्पण करना उचित है। जो लोग स्थायी ऐश्वर्य के लिए क्षणभंगुर शरीर और चञ्चला लक्ष्मी का मोह नहीं रखते वे देवत्व प्राप्त

करके महाधन के अधिकारी होते हैं । सच्चरित्रता ही चिर-स्थायी ऐश्वर्य है । चरित्र की उन्नति से सब प्रकार की उन्नति होती है और चरित्र बिगड़ने से सभी बातें बिगड़ जाती हैं। सारी अवनति और अमङ्गल की जड़ दुश्चरित्रता ही है। चरित्र नष्ट होने से सभी गुण नष्ट हो जाते हैं । चरित्र को सुरक्षित रख के ही कोई अपनी स्वास्थ्यरक्षा और आध्यात्मिक उन्नति कर सकता है । जिनका चरित्र अच्छा है वे भद्र हैं, और अभद्र वही हैं जो सच्चरित के विरुद्ध आचरण करते हैं ।

सत्साहस

श्रीमान् आदिनाथसेन, ढाकाप्रदेश के भूतपूर्व स्कूल इन्सपेक्टर स्वर्गीय रायसाहब दीननाथसेन के पुत्र थे । एक दिन की बात है वे बालकों के साथ क्रिकेट खेल रहे थे। खेलने की जगह के पास ही एक कुआँ था । अकस्मात् एक तीन वर्ष का बालक उस कुएँ में गिर पड़ा । आदिनाथ बाबू उस लड़के को पानी में डूबते हुए देख कर अपने प्राण का मोह न करके उसके उद्धारार्थ कुएँ में कूद पड़े । अन्यान्य बालकों ने झट पट कुएँ में एक रस्सी गिराई । आदिनाथ ने एक हाथ से लड़के को पकड़ा और दूसरे हाथ से डोरी पकड़ी । लड़के रस्सी खींच कर उन्हें बाहर निकालने लगे ।

उनके कुछ दूर पानी से ऊपर आने पर रस्सी टूट गई और वे लड़के को लिये ही फिर कुएँ में गिर पड़े। वे तैरना जानते थे। लड़के को एक हाथ से ऊपर उठा कर दूसरे हाथ से पानी पर तैरने लगे। लड़कों ने झट पट एक और मोटी रस्सी लाकर कुएँ में लटकाई उस रस्सी के सहारे आदि-नाथ बाबू उस लड़के को लिये हुए कुएँ के बाहर निकल आये।

श्रीमान् आदिनाथ बाबू ने जलमग्न बालक को बचाने के लिए अपने जीवन की परवा न की। यह अच्छा दृष्टान्त सभी को अनुकरण करने योग्य है। हम आशा करते हैं, युवक-गण आदिनाथ बाबू के इस उपयुक्त साहस को न भूलेंगे और किसी को विपदस्थ होते देख यथासाध्य उसे उस विपद से उद्धार करने की चेष्टा करेंगे। (संजीवनी)

इस तरह की भी कितनी ही बातें सुनी और देखी गई हैं। किसी के मकान में आग लगी है। हवा ख़ूब तेज़ी से बह रही है। बात की बात में आग ने चारों ओर से मकान को घेर लिया है। ऐसे प्राण-संकट की जगह भी कितने ही दयावान् लोगों ने साहस-पूर्वक मकान के अन्दर घुस कर मृत्यु के मुँह में पड़े हुए स्त्री-पुरुषों के प्राण बचाये हैं। यही सब सत्साहस के उदाहरण हैं। असत् साहस करनेवाले लोगों की कमी नहीं, किन्तु इस प्रकार सत्साहस करनेवाले लोग

विरले ही हैं । प्रबल धर्म और नैतिक बल के द्वारा ही मनुष्यों के हृदय में ऐसे अच्छे साहस के काम करने की प्रेरणा होती है ।

जो लोग सैकड़ों विघ्न-बाधाओं को पार कर, स्वार्थ को जलाञ्जलि देकर, लोकलज्जा आदि कुसंस्कारों का कुछ भय न करके न्याय और सत्य के रक्षार्थ सर्वदा मुस्तैद रहते हैं उन लोगों को बहुत कुछ सत्साहस करना पड़ता है ।

परोपकार

विना प्रेम के उदय से कोई सच्चे परोपकार की वृत्ति धारण नहीं कर सकता । किसी का निरपेक्ष होकर उपकार करना ही सच्ची उदारता है । यह सोच कर किसी का उपकार करना कि मैं उपकार करता हूँ तो वह भी मेरा उपकार करेगा, स्वार्थ से ख़ाली नहीं कहा जा सकता । ऐसे उपकार को वणिक्वृत्ति कहना अनुचित न होगा । सत्कर्म्म करने से जो हृदय में एक प्रकार का अलौकिक आनन्द उत्पन्न होता है उस आनन्द का उपभोग ऐसे मतलबी उपकारी लोग नहीं कर सकते । अनुराग पर ही यह सारा संसार ठहरा है । यह अनुराग सन्तानों पर गुरुजनों के ऊपर, बन्धुबान्धवों के साथ और ईश्वर के प्रति स्नेह, श्रद्धा, प्रणय, प्रेमभक्ति इत्यादि के भिन्न भिन्न नाम से

व्यवहृत है । अनुराग का जब अभाव होता है तभी मन में मलिनता, ईर्ष्या, द्वेष, दुःख और आर्तनाद आदि अनभिलषित दोष आ आ कर एकत्र होते हैं । मनुष्यों के हृदय में अनुराग ही जीवन का सुख और प्रफुल्लता का भाव प्रकट करता है । दूसरे को अपने बराबर समझने से और शत्रु को मित्र करके मानने से लोग वन के पशु, पक्षी और हिंस्र जन्तुओं को भी मित्र बना सकते हैं । कष्ट से भरे हुए संसार को सुख का स्वर्ग बनाने के लिए एकमात्र अनुराग चाहिए । जो अनुराग पाकर भी उसका उचित उपयोग करना नहीं जानते उन्हें अनुराग का वास्तविक सुख नहीं मिलता ।

वह मनुष्य नहीं देवता है ।

जो नित पर हित निरत रहि, करै सभी सों प्रेम ।
गिनै न निज सुख दुःख को, यहै जासु व्रत नेम ॥ १ ॥
जो चित में सोचत रहत, पर उपकृति की बात ।
भेद बुद्धि तजि भूलि हू, करत न पर अभिघात ॥२॥
दया राखि सब जीव पै, करि सब को उपकार ।
मधुर वचन भाषत सदा, तोषत करि सत्कार ॥ ३ ॥
विनय दया अरु प्रेम से, जासु हृदय भरपूर ।
नहि मनुष्य वह देवता, गहहु तासु पद धूर ॥ ४ ॥

नैतिक बल और बड़प्पन

सत्साहस के साथ नैतिक बल का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध है कि इन दोनों को कोई अलग अलग नहीं कर सकता। जहाँ नैतिक बल है वहाँ सत्साहस है। अतएव सत्साहस को नैतिक बल के अन्तर्गत मानना होगा। नैतिक बल भद्रता का चिह्न है। कोई अच्छे कुल में ही क्यों न उत्पन्न हो, यदि वह नैतिक बल से विहीन है तो समाज में वह अभद्र गिना जाकर निन्दास्पद समझा जाता है। हम लोग अपने जीवन में एक भी सत्साहस का सुयोग न पाने पर भी नित्य के अनुष्ठित छोटे छोटे कामों में ही नैतिक बल को चरितार्थ करने लगते हैं। उन्हीं के अनुरूप हम लोगों के चरित्रगत जीवन गठित होते हैं। किन्तु सच्चे नैतिक बल का जिनके पास अभाव है वे सभ्यसमाज में अनादरणीय समझे जाते हैं। कोई सुन्दर शरीर, चटकीली पोशाक, उच्चवंश, और प्रचुर धन आदि अनेक गुणों से भी नैतिक बल का मुक़ाबला नहीं कर सकता।

धर्म और नैतिक बल के अनेकानेक दृष्टान्त हमारे पौराणिक इतिहास में वर्णित हैं। उन सबों को केवल पुराण की कहानी मात्र करके ही न समझो। आजकल के लिए तो वे सब दृष्टान्त असम्भव हो रहे हैं किन्तु हमारे देश

में अब भी इस गुण का एकदम अभाव नहीं हो गया है। अब भी कितने ही महान् पुरुष, सत्य, न्याय और कर्तव्य का पालन कर उन पौराणिक दृष्टान्तों को प्रमाणित कर रहे हैं और तुम लोगों की आँखों के सामने आदर्शस्वरूप अपने चरित्र को छोड़े जा रहे हैं। तुम लोगों को उस वीरसिंह नामक गाँव के पुरुषसिंह की बात याद होगी। नैतिक बल के लिए वे तुम लोगों के अवश्य आदर्शस्थल हैं। नैतिक शक्ति की बदौलत ही वे मनुष्यता के उच्चतम आसन के अधिकारी हुए थे। आजकल जो विद्यासागर महाशय के पवित्र नाम का स्मरण और उनकी प्रतिमूर्ति की पूजा सामाजिक लोग हृदय से कर रहे हैं इसका कारण वही असाधारण नैतिक बल जानना चाहिए। तुम लोगों को इस पुस्तक में विद्यासागर महाशय प्रभृति अनेक महात्माओं के चरित का उल्लेख जगह जगह देखने में आवेगा।

सर्वजन मान्य महामहिम देवेन्द्रनाथ ठाकुर ने जब अपने पिता के प्रतिष्ठित "कारठाकुरकम्पनी" नामक सुप्रसिद्ध महाजनी कोठी का आधिपत्य प्राप्त किया, तब उनकी देख भाल से कोठी का कारबार ठीक ठीक चलने लगा। कुछ दिन के लिए वे कोठी छोड़ कर अन्यत्र गये। उनके पीछे कर्मचारियों की असावधानी और सुस्ती से कोठी का काम

गड़बड़ा गया। आमद कम और ऋण बढ़ने लगा। कोठी का काम यहाँ तक बिगड़ गया कि पानेवाले लोगों के हुंडी के रुपये भी यथासमय देना कठिन हो उठा। इससे कोठी की मर्य्यादा जाती रही और व्यापार भी ढीला पड़ गया। आखि़र हिसाब करने से जाना गया कि कोठी लगभग करोड़ रुपये की देनदार हो गई है। पानेवाले महाजन यह ख़बर पाकर सोच करने लगे। कितने ही तो हताश हो पड़े। देवेन्द्रनाथ ठाकुर उस समय युवा थे ? उन्होंने अपनी अवस्था, पानेवालों की अवस्था और वाणिज्यव्यवसाय के मानमहत्त्व की सभी बातों पर दृष्टि दी। यह करोड़ रुपया ऋण उनके पिता का किया था, यह भी उन्होंने जाना। वे पिता के उत्तराधिकारी सूत्र में बद्ध हो चुके थे। ऋण चुकाते हैं तो उनकी सारी सम्पत्ति उनके हाथ से चली जाती है और वे दरिद्र की मण्डली में गिने जाते हैं। एक तरफ़ उनके ऐश्वर्य्य के मध्याह्न समय में सर्वस्व लुप्त होने की सम्भावना और दूसरी तरफ़ अपने धन को दबा रखने से कितने ही निरपराध महाजनों के सर्वनाश होने का भय। उनके सलाह देने वाले लोग वैसे ही थे जो स्वार्थसाधन को ही मुख्य बतला रहे थे। किन्तु न्यायशील और कर्तव्यनिष्ठ देवेन्द्र बाबू ने सबके सामने संकल्प किया कि कोठी के स्वत्व के साथ मैं अपना सर्वस्व देकर भी पितृ-

ऋण का परिशोध करूँगा।" उनके जीवन की इस तरह की अनेक घटनाओं में यह भी एक है। सांसारिक लोग किसी प्रकार का प्रलोभन देकर उन्हें पथच्युत नहीं कर सके, स्वार्थ की महिमा गाकर उनके मन को विचलित नहीं कर सके। जिन कामों को उन्होंने श्रेष्ठ समझा, उनके अनुष्ठान में आपने कभी पैर पीछे न किया। धनवान् के घर जन्म लेकर, बड़े लाड़ प्यार से सुखपूर्वक पाले जाकर और स्वयं अतुल ऐश्वर्य्य का अधिकार पाकर भी जिन्होंने संसार के आपातरमणीय सैकड़ों सुखप्रलोभन को तुच्छ गिन कर जीवन के अन्तिम समय तक अपने पवित्र चरित्र की रक्षा की; कहो, उनका नैतिक बल कैसा असाधारण था?

दूसरे का जो कुछ बाक़ी है और यथार्थ है, उसे दे डालने में अपनी हानि होते देख कर भी जो दे देना ही उचित समझते हैं; जो किसी प्रकार का अनुचित काम करके परीक्षा के समय अशुभ परिणाम का भय न करके अपना अपराध स्वीकार करते हैं; वे बालक हों, चाहे वृद्ध हों, नैतिक बल और अच्छे आचरण से जनसमाज में अवश्य उच्चासन के अधिकारी होते हैं। जो व्यक्ति नैतिक बल से बलवान् हैं वे लोकनिन्दा, लोकलज्जा, उपहास आदि कुसंस्कार के बन्धन को तोड़ कर संकोचरहित हो प्रकाश्यरूप

से लोकोपकारी सत्कर्म का अनुष्ठान करते हैं। कभी कभी ऐसी घटना हो जाया करती हैं। जब कितने ही व्यक्ति अपना नैतिक बल प्रकाश करने में संकुचित हो पड़ते हैं और अपनी मर्यादा की हानि होने के भय से वृथा डरने लगते हैं तब कोई महान् पुरुष अपने असाधारण नैतिक बल से उन व्यक्तियों के भय को दूर कर देता है। जगद्विख्यात महाधनी दानवीर एन्ड्रू कार्नेगी के बड़प्पन की बात किससे छिपी है ?

कार्नेगी की अतुल सम्पति की एक मात्र उत्तराधिकारिणी थी उसकी भतीजी न्यान्सी। न्यान्सी ने अपने चचा के गाड़ीवान् हिवार के प्रेम में आसक्त होकर उसे पति बनाना चाहा। संसार के सर्वसाधारण लोग न्यान्सी के इस अयुक्त विवाह से क्या कहेंगे ? किन्तु कार्नेगी को यह सुन कर कुछ क्रोध या खेद न हुआ। उसने प्रकाश्यरूप में कहा, "मेरा भूतपूर्व गाड़ी हाँकनेवाला हिवार अत्यन्त सच्चरित और सुशील युवक है। इस कारण मेरी भतीजी न्यान्सी यदि उसके साथ ब्याह करेगी तो हम लोगों को इसमें कोई असन्तोष न होगा। बल्कि न्यान्सी किसी गुणहीन डयूक से विवाह न कर ऐसे गुणवान् युवक को पति बनाना चाहती है यह हम लोगों के लिए हर्ष का विषय है।" उच्चवंशोद्-

अब धन-कुबेर कार्नेगी का यह नैतिक बल कुछ साधारण नहीं है।

महात्मा कृष्णदासपाल का नाम बहुतों ने सुना होगा। ये सच्चे स्वदेशहितैषी, उदार, साधु प्रकृति के मनुष्य थे। साधारण अवस्था से इतनी बड़ी उन्नति करते और दरिद्र के सन्तान को इस प्रकार देशमान्य होते देख किसे अचम्भा न होगा ? उनके सदृश भद्रपुरुष बहुत ही कम दिखाई देते हैं। ये महात्मा अपनी जाति के समाज में, अङ्गरेज़ों के समाज में, बड़े लाट साहब की कौंसिल में और अपने बन्धु-वर्गों की सभा में, सभी जगह समभाव से सम्मानित और पूजित थे। अब भी इस बात की चर्चा लोगों में चलती है। एक दिन एक ऊँचे दर्जे का कर्मचारी अङ्गरेज़ (सरकारी नौकर) कृष्णदासजी से मिलने उनके घर पर आया। इस समय कृष्णदास अन्दर हवेली में थे। उनके वृद्ध पिता मामूली कपड़े पहने घर के बाहर बैठे थे। यह सरकारी नौकर घोड़े पर चढ़ के आया था। घर के सामने सामान्य कपड़े पहने वृद्ध को देख कर उसने उन्हें घर का कोई एक भृत्य समझ कर घोड़े की लगाम पकड़ने को कहा। वृद्ध उसकी बात पर कर्णपात न करके कृष्णदास को ऊँचे स्वर से पुकारने लगे। महात्मा कृष्णदास ने पिता के अपमान की बात जान कर झट-पट दबे पाँव बाहर

आकर उस अङ्गरेज़ से समझा कर कहा—"महाशय, ये हमारे पिता हैं।" यह सुन कर वह राजकर्मचारी अङ्गरेज़ अत्यन्त अप्रतिभ होकर कृष्णदास और उनके पिता के निकट बार बार क्षमा के लिए प्रार्थना करने लगा और बोला—"कृष्णदास बाबू, आप नैतिक बल और उदारता के कारण यथार्थ में ही पूज्य हैं।"

सम्मानरक्षा

अपने से उच्चपदस्थ व्यक्तियों का सम्मान करना तो शिष्टाचारी भद्र मनुष्यों का कर्तव्य है ही; किन्तु अपने से न्यून पदस्थित या अधीन व्यक्तियों के उपयुक्त मान का पालन करना भी विशेष सौजन्य का चिह्न है। जो सच्चे शिष्टाचारी हैं वे सबका उचित सम्मान करते हैं। अभद्रता का काम करके वे कभी किसी का जी नहीं दुखाते। कितने ही लोग अपने अधीन व्यक्तियों से यथोचित सम्मान न पाने पर अपने को अपमानित समझते हैं। किन्तु जिन लोगों से वे ऐसे व्यवहार की आशा करते हैं, वे लोग भी अच्छे कुल-शील के हैं और अपना उचित आदर चाहते हैं, इस पर वे ध्यान नहीं देते। इससे यह प्रकट हुआ कि जो अपने अधीन

लोगों से सम्मान पाना आवश्यक समझते हैं उन्हें उनकी सम्मान-रक्षा के ऊपर भी ध्यान रखना चाहिए ।

ऐसे लोग भी बहुत हैं जो समाज में अपने को भद्र कह कर परिचय देते हैं और अपने कुलशील, मान-महत्त्व को बहुत बड़ा मानते हैं और दूसरे पर प्रकट करने की चेष्टा करते हैं । अपने सम्मान पाने का अनेक प्रयत्न करने पर भी जब उनका कोई सम्मान नहीं करता तब वे सर्वसाधारण के निकट हास्यास्पद होते हैं । सब लोग उनकी हँसी उड़ाया करते हैं । जो लोग दूसरे को छोटा समझ कर आप उच्चतम होना चाहते हैं और दूसरे का अपमान करके अपनी मान-रक्षा का अभिलाष रखते हैं वे इस मनुष्य-प्रकृति के सम्बन्ध में नितान्त अनभिज्ञ हैं । उच्चश्रेणी की शिक्षा का अभाव, दूसरे के अभ्युदय की असहिष्णुता, हिंसा और द्वेष आदि नीच प्रकृति की प्रवृत्ति ही इस अनभिज्ञता का कारण कही जा सकती है । ऐसे क्रूर लोग सच्चे माननीय लोगों का भी सम्मान नहीं करते, साधारण लोगों की तो कुछ बात ही नहीं । इन बातों से ये नीच प्रकृति के मनुष्य आप ही अपनी छुटाई को प्रमाणित करते हैं । मान्य व्यक्ति को सम्मानित करने से जो अपना महत्त्व बढ़ता है, यह बात उनके ध्यान में नहीं आती । उनके अधीन लोग विशेष विद्या, बुद्धि और धन न पा कर भी भद्र सन्तान हैं, इस बात को वे भूल करके

भी नहीं सोचते । तुम लोग यदि अपने को मान्य बनाना चाहो तो मान्य व्यक्ति की सम्मानरक्षा करने में कभी आलस्य न करो ।

इस विषय में कलकत्ता हाईकोर्ट के भूतपूर्व जज स्वनाम-ख्यात श्रीमान् द्वारकानाथ मित्र महाशय हम लोगों के आदर्श स्वरूप हो गये हैं । वे अपने जीवन में कभी किसी मान्य व्यक्ति का सम्मान करना नहीं भूले । वे अपने अधीन लोगों को तथा साधारण से साधारण व्यक्तियों को मधुर-भाषण के द्वारा सर्वदा प्रसन्न रखते थे और निश्छल व्यवहार से सबको आप्यायित किये रहते थे । इन बातों में वे अपनी अप्रतिष्ठा न समझ कर बड़प्पन समझते थे । किसी उत्सव के समय साधारण अवस्था के भद्र पुरुषों के सम्मान में किसी प्रकार की त्रुटि न हो इसलिए वे स्वयं उन लोगों की अभ्यर्थना करते थे और उच्चपदस्थ सम्भ्रान्त व्यक्तियों के सत्कार का भार बन्धु-बान्धवगणों को देते थे । उनका यह अन्य-दुर्लभ सौजन्य ही उन्हें सबका प्यारा बना रहा था। वे जो छोटे बड़े भद्र अभद्र सभी के साथ निष्कपट व्यवहार करते थे और सबका यथायोग्य सम्मान करते थे, इसमें उन्हीं का महत्त्व और गौरव बढ़ता था ।

भले बुरे व्यवहारों के कारण से ही समाज दो भागों में विभक्त हुआ है । सभ्य और असभ्य । जो नीच प्रकृति के

मनुष्य हैं वे अविनयी, दुष्ट, कठोरभाषी, दुराचारी और हृदय के संकीर्ण होते हैं। इसी से वे लोग असभ्य समाज में परिगणित होकर सभ्य-समाज से सर्वदा अलग रहते हैं। किन्तु अच्छे आचरण से नीच जाति के लोग भी असभ्यसमाज में आदरणीय समझे जाते हैं और व्यवहार के दोषों से उच्च-जाति और उच्चवंश के लोग समाज में निन्द्य गिने जाते हैं। इससे समझना चाहिए कि व्यवहार ही मनुष्यों को बड़ा या छोटा बनाता है। तुम लोग जब वयःप्राप्त होगे, जब तुम लोगों में कितने ही अग्रगण्य, मान्य और धनाढ्य बनोगे, तब तुम्हें बड़े लोगों से भेट करने तथा शिक्षित समाज में आने जाने का काम पड़ेगा। यदि अभी से तुम अपने स्वभाव और चरित्र को उत्तम बनाने की चेष्टा न करोगे तो तुम्हें समझना चाहिए कि तुम अनेक विषयों में अशिक्षित ही रहे। इसके लिए किसी दिन तुम ज़रूर पश्चात्ताप करोगे। जब समाज तुम्हें अभद्र कह कर तुम्हारी उपेक्षा करेगा तब भी तुम्हारे मन में ग्लानि उत्पन्न न हो, यह बात दूसरी है किन्तु इस प्रकार की उपेक्षा से कभी कभी तुम लोग अपने को अपमानित समझ कर अवश्य दुःखी होगे।

पाँचवाँ परिच्छेद

कोऽतिभारः समर्थानां किं दूरं व्यवसायिनाम् ।
को विदेशः सविद्यानां कः परः प्रियवादिनाम् ॥१॥

काकः कृष्णः पिकः कृष्णः को भेदः पिककाकयोः ।
प्राप्ते वसन्तसमये काकः काकः पिकः पिकः ॥२॥

तास्तु वाचः सभायोग्या याश्चित्ताकर्षणक्षमाः ।
स्वेषां परेषां विदुषां द्विषामविदुषामपि ॥३॥

भावार्थ—समर्थ पुरुषों के लिए कुछ भार नहीं, व्यवसाइयों के लिए कोई दूर देश नहीं, विद्वानों के लिए कोई विदेश नहीं, प्रिय-भाषियों को कोई पराया नहीं ॥१॥२॥३॥

वाङ्माधुर्यान्नान्यदस्ति प्रियत्वं
वाक्पारुष्यान्नोपकारोऽपि नेष्टः ।
किं तद्द्रव्यं कोकिलेनोपनीतं
को वा लोके गर्दभस्यापराधः ॥४॥

मधुर वचन से बढ़ कर संसार में कुछ प्रिय नहीं है। कटुभाषण से कोई उपकार भी करे तो वह प्रिय नहीं होता ॥४॥

अविरतं परकार्यकृतां सतां
मधुरमातिशयेन वचोऽमृतम् ।
अपि च मानसमम्बुनिधिर्यशो-
विमलशारदपार्वणचन्द्रिका ॥५॥

जो सज्जन हैं वे सदा मीठी बातों से दूसरों का उपकार करते हैं। उनका हृदयरूपी समुद्र सर्वदा सुयशरूपी पूर्णचन्द्र स्पर्श करने के हेतु बढ़ता ही रहता है ॥५॥

ऐश्वर्यस्य विभूषणं सुजनता शौर्यस्य वाक्संयमः
ज्ञानस्योपशमः कुलस्य विनयो वित्तस्य पात्रे व्ययः ।
अक्रोधस्तपसः क्षमा बलवतां धर्मस्य निर्व्याजता
सर्वेषामपि सर्वकारणमिदं शीलं परं भूषणम् ॥६॥

ऐश्वर्य का भूषण सुजनता है । शूरता का कोमलालाप, ज्ञान का शान्ति, कुलीनता का विनय, धन का सत्पात्र में दान, तपस्या का निष्क्रोध, बलवानों का क्षमा और धर्म का भूषण निश्छलता है; किन्तु शील सबके लिए सब भूषणों का भूषण है अर्थात् शील से बढ़ कर दूसरा भूषण नहीं ॥६॥

मधुर-भाषण

मीठी बातों में न मालूम कैसी मोहनी शक्ति है, जिससे लोग असाध्य कामों को भी साध्य कर सकते हैं। अच्छी चीज़ों की ओर आप से आप मनुष्य मात्र का हृदय आकृष्ट होता है और जो बुरी चीज़ है उस पर स्वभावतः मनुष्यों को घृणा उत्पन्न होती है। मधुर वचन में अवश्य ही ऐसी कोई विलक्षण माधुर्यशक्ति है जो लोगों के चित्त को हर लेती है। मधुर वचन से निर्दय के हृदय में दया का संचार हो आता है। कठोर स्वभाव के मनुष्यों का मन कोमल हो जाता है। यहाँ तक कि घोर शत्रु भी मित्रता का व्यवहार करने लगता है। मधुरस्वर की तरङ्ग क्या नहीं कर सकती ? काल के समान महा विषधर साँप भी संगीत से मोहित होकर डसना भूल जाता है। जंगल के पशु पक्षी वश में हो जाते हैं। मनुष्य तो अपने को भूल ही जाता है। मधुर-भाषण की महिमा संगीत से कुछ कम नहीं है। मधुरशब्द कर्णकुहर में प्रवेश होते ही लोगों का हृदय द्रवित हो उठता है। यह अमृतवाणी यदि विनय के साथ मिल जाय तो मानो सोने के साथ सुगन्ध मिल गया। हम लोगों को मधुर-भाषण के अभाव से बहुत हानि सहनी पड़ती है। यह जान कर भी हम लोग मधुर-सम्भाषण करना नहीं सीखते। मीठी बात

बोलने के लिए कुछ ख़र्च नहीं करना पड़ता, बल्कि बहुत धन ख़र्च करके भी लोग जो काम सिद्ध नहीं कर सकते वह दस पाँच मीठी बातों में सिद्ध हो जाता है। जो लोग मधुर वचन बोलते हैं और जो उसे सुनते हैं, दोनों ही के हृदय में शान्ति-सुख प्राप्त होता है; मन में पवित्र भाव का उदय होता है; आत्मा तृप्त होता है। मधुरभाषी लोग सब के प्यारे होते हैं। जहाँ मीठी बातें बोली जाती हैं वहाँ की हवा मधुमय हो जाती है। एक मधुरभाषी व्यक्ति सैकड़ों के सुख का कारण होता है। मधुर वचन के सुनने वालों को दुःख, शोक, शोच, विषाद की बातें भूल जाती हैं। जिनके हृदय में प्रेम और दया नहीं है उनके मुँह से प्रायः मधुर वचन नहीं निकलता। प्रेम और दया ही मधुरवाक्यों का उत्पत्तिस्थान है। जो लोग प्रेमिक और दयालु हैं वे बहुधा मिष्टभाषी ही होते हैं।

जिन्होंने यह प्रतिज्ञा कर ली है कि "हम सबसे मीठी बात बोलेंगे।" वे छिपे छिपे अपने प्रेम, स्नेह और दयावृत्ति का परिचालन करते हैं। सब कोई परीक्षा करके जान सकते हैं कि हम लोगों को जहाँ तक मधुर-भाषण करना चाहिए नहीं करते हैं। यह बड़े ही खेद का विषय है।

(वामाबोधिनी पत्रिका)

विनय

बङ्गदेश के एक प्रसिद्ध प्रतिष्ठित दार्शनिक विद्वान् ने लिखा है कि "अभिमानी लोगों का मुँह देखने में बड़ा ही भयङ्कर मालूम होता है। अहङ्कार शत्रुता उत्पन्न करता है, ईर्ष्या को बढ़ाता है और संसार के अच्छे रास्तों को कण्टकाकीर्ण करता है। किन्तु विनय शत्रु को मित्र बनाता है, ईर्ष्या-सर्पिणी के विषैले दाँतों को तोड़ता है और संसार के कठिन से कठिन मार्गों को भी पुष्पशय्या की तरह कोमल बना डालता है। विनय कितने महत्त्व की वस्तु है—यह अल्पबुद्धि लोग नहीं समझते। उन्होंने जहाँ थोड़ी विद्या-बुद्धि की बातें सीखीं तहाँ मारे अहङ्कार के फूल उठे।

अहङ्कार का ठीक उलटा विनय है। अहङ्कार दोष है और विनय गुण है। मनुष्यमात्र गुण के पक्षपाती होते हैं, इसलिए वे अहङ्कार नहीं देख सकते और विनय देख कर हृदय से प्रसन्न होते हैं। विनय अपने गुण से जैसे शत्रु को मित्र बना सकता है वैसे ही अहङ्कार भी मित्र को शत्रु बनाता है और शत्रुओं की संख्या बढ़ाता है। सौजन्य, विनय और मधुरभाषण परस्पर जैसे मिले जुले हैं वैसे ही अशिष्टता, कठोर भाषण और अहङ्कार भी परस्पर सहानुभूति रखते हैं। विनयी किसी काम में सफलता प्राप्त करता

है और अविनयी निष्फलता। जो लोग उद्दण्ड हैं, उद्धत हैं उनका एक भी उद्देश सफल नहीं होता। इन सब बातों की सचाई के लिए कोई प्रमाण ढूँढ़ना न पड़ेगा। विनय और अविनय के फलाफल की घटना प्रति दिन हुआ करती है। उसी से लोग पूर्वकथित बातों की सत्यता को प्रमाणित कर सकते हैं। यदि तुम्हारे मन में सन्देह हो तो तुम स्वयम् परीक्षा कर देखो। विनयी लोगों की अधीनता आपसे आप लोग स्वीकार करते हैं; किन्तु अहङ्कारी से रुष्ट होकर कोसों दूर भागते हैं। यदि तुम लोग सीधे उपाय से अपना सुयश संसार में फैलाना चाहो तो विनयी, मिष्ट-भाषी और निरभिमान बनो। जो लोग सच्चे साधु महात्मा हैं वे साधारण लोगों की अपेक्षा अधिक विनयी होते हैं। किन्तु बहुतों को विश्वास है कि साधु-संन्यासी लोग क्रोध के अवतार होते हैं। विनय किस को कहते हैं यह तो वे जानते भी नहीं। साधारण लोगों की तो कोई बात ही नहीं, बड़े बड़े सेठ, साहूकार, राजा, महाराजों को भी वे तुच्छ दृष्टि से देखते हैं। इसी प्रकार गुरुभक्त शिष्यों की ग़रीबी से भरे हुए व्यवहार और सङ्कोच देख कर कितने ही लोग यह समझते हैं कि "गुरु देव के क्रोध की आशङ्का से डर कर वे अपनी इतनी दीनता दिखलाते हैं।" जो लोग ऐसा ख़याल करते हैं उनमें अधिकांश लोग प्रायः अविनीत होते हैं। वे यह नहीं

जानते कि भय से इस प्रकार वशीभूत होकर प्रसन्न-मन से कोई अपनी दीनता प्रकट नहीं कर सकता। जो शिक्षक जितने ही अधिक विनयी होते हैं उनके शिष्यगण उनके प्रति उतनी ही अधिक भक्ति और विनय का व्यवहार दिखलाते हैं। महात्मा लोग अपने विनय, प्रेम और सदय व्यवहार से सबके हृदय को मोहित कर अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं और शिष्यगणों की भक्ति कुसुमाञ्जलि से नित्य पूजित होते हैं। महात्मा भूदेव मुखोपाध्याय ने अपनी पुस्तक में कहीं लिखा है—"बलवान् पुरुषों के निकट जो दुर्बल व्यक्ति अधीनता या नम्रता दिखलाता है उसे भक्ति नहीं कह सकते। किसी की श्रेष्ठता पर जो स्वतः सद्भाव उत्पन्न होता है उसी का नाम भक्ति है।" महान् पुरुषों के पवित्र चरित्र ही इस भक्ति के उत्पादक हैं।

साधुगण अपने चरित्र की निर्मलता और विनय प्रेम सहित मधुर भाषण से बड़े बड़े प्रबल प्रतापी राजाधिराजों को अपने पैरों के समीप आकर्षित कर उनके धनगर्वित हृदय में दैन्य और विनय के बीज बोते हैं। केवल कौपीन पहन, सारे शरीर में भस्म लेप कर साधु वेश धारण करने ही से कोई साधु नहीं कहला सकता। आज कल कितने ही असाधु साधु का वेश धारण करके समाज का बहुत ही अनिष्ट कर रहे हैं। यही वेशधारी वञ्चक भक्त अविनय,

क्रोध और अशिष्टता के अवतार हैं । हृदयस्थित काम-क्रोधादि शत्रुओं को विना दबाये कोई साधु नहीं हो सकता। किन्तु इन कपटाचारी साधुओं के अन्तःकरण में वे सब शत्रु सर्वदा प्रबल बने रहते हैं। तुम लोग भूल कर भी ऐसे कपट-वेषधारी मनुष्य का कभी अनुकरण न करो ।

विनय का अवतार

नभोभूषा पूषा कमलवनभूषा मधुकरो-
वचोभूषा सत्यं वरविभवभूषा वितरणम् ।

मनोभूषा मैत्री विमलकुलभूषा सुचरितम् ।
सदोभूषा सूक्तिः सकलगुणभूषा च विनयः ॥

जो लोग धन, जन, बन्धु, बान्धवगणों से घिरे हुए हैं, सम्पत्ति की सुखगोद में पले हैं, जिनका इशारा पाने पर सैकड़ों आदमी एक साथ आज्ञापालन करने के हेतु खड़े हो जाते हैं, जिनकी इच्छा से अत्यन्त दुर्लभ सामग्री भी हँसी खेल की तरह बात की बात में इकट्ठी होती है, झुंड के झुंड नरनारी गण जिनकी दया से प्रतिपालित हो रहे हैं ऐसे अतुल सम्पत्ति के अधिकारी को विनयवश होकर किसी के

निकट सिर नवाते हुए क्या तुमने कभी देखा है ? कैसे देखोगे ? संसार में ऐसे लोगें की संख्या बहुत कम है । किन्तु इस श्रेणी के लोगें में जिन्होंने समान बलवाले शत्रु के निकट विनयावनत होकर भयङ्कर वैरी को भी परम मित्र बना लिया, कहो, उनकी यह अहङ्कारशून्यता और दीनता कितनी बड़ी थी ? उनका यह उदार चरित्र कैसा अलौकिक आनन्द देनेवाला है ? ऐसे महान् पुरुष ने तुम्हारी ही इस जन्मभूमि में जन्मग्रहण किया था । बङ्ग देश में ऐसे लोग बहुत कम होंगे जो उनके नाम से परिचित न हों । उन प्रातःस्मरणीय विनयावतार महात्मा का नाम था लालाबाबू । इनके आश्चर्य, वैराग्य, असाधारण विनय, दीनता और असीम दानशीलता की ख्याति दूर दूर तक चारों ओर फैली हुई थी । क्या स्त्री, क्या पुरुष, क्या बालक, क्या वृद्ध सभी के मुँह से लालाबाबू की प्रशंसा सुनी जाती थी । लालाबाबू अपने अतुल ऐश्वर्य को त्याग कर एक साधारण अवस्था के दीन व्यक्ति की तरह शुद्ध मन से परमार्थ की चिन्ता में लग गये । वे दुर्भिक्षपीड़ित दीन-दुखियों को बड़ी उदारता के साथ अन्न वस्त्र देते थे । उन्होंने वृन्दावन में एक अन्नसत्र (क्षेत्र) स्थापित किया था । जो भूखे वहाँ जाते थे उन्हें भोजन मिलता था । उन्होंने वहाँ एक मन्दिर भी श्रीकृष्णरायजी का बनवाया । सारे बङ्ग देश में लालाबाबू की घर घर प्रशंसा होने लगी । मुक्तकण्ठ से

लोग उनकी स्तुति करने लगे। किन्तु उस विनयी लालाबावू के कानों में अपनी प्रशंसा की बात खटकने लगी। जिन्होंने अहंकार को पैरों के नीचे दबा कर विनय और दैन्य को माथे का मुकुट बना रक्खा है, जिन्होंने अपनी सारी सम्पत्ति को परोपकारव्रत में लगा कर अपने को भगवच्चरणारविन्द में अर्पित कर दिया है उन्हें आत्मप्रशंसा की बातें क्यों कर सह्य हो सकती थीं। वे आत्मनिन्दा की बातों से अपने को उपकृत मानते थे, और अपनी त्रुटि के संशोधन में तत्पर होते थे, किन्तु अपनी प्रशंसा सुनते ही उन्हें मरणदशा प्राप्त होती थी और वे अपराधी की तरह संकोचभाव धारण कर चुप हो रहते थे। वे चारों ओर से अपनी प्रशंसा की बातें सुन सुन कर घबरा उठे और प्रशंसा से परित्राण पाने के हेतु बङ्गदेश छोड़ कर वृन्दावन चले गये। लालाबावू वास्तव में ही विनय के अवतार थे। यह नीचे की लिखी घटना से स्पष्ट विदित होगा।

वृन्दावन के यात्रिगण जो पुलिन वा वासस्थली नामक स्थान के पूरव तरफ़ अपूर्व देवमन्दिर और श्रीकृष्णरायजी की विविध प्रकार से सेवा होते देखते हैं वह इन्हीं लालाबावू की कीर्ति है। लालाबावू इसी मन्दिर में निवास करके और दिन रात भगवान का भजन करके समय विताने लगे। उन्होंने तब तक दीक्षा (मन्त्र) ग्रहण न की थी। उन दिनों भक्ति-

मार्ग के परम ज्ञाता साधु श्रीकृष्णदास बाबाजी वृन्दावन में वास करते थे। इन्हीं महात्मा ने वैष्णव भक्तगणों के अपूर्व जीवनचरित्र भक्तमाल ग्रन्थ का अनुवाद वङ्गभाषा में किया है। लालाबाबू ने जब कृष्णदास बाबाजी की साधुता, असाधारण भगवद्भक्ति, अहङ्कारशून्यता और असीम पाण्डित्य की बात सुनी, तब वे बाबाजी से मन्त्र लेने के लिए व्यग्र हो उठे। श्रीकृष्णदास बाबाजी इसके पहले ही लालाबाबू की पूर्वावस्था, वैराग्य, दया और विनय आदि अनेक गुणों की बातें सुन चुके थे। उनका हृदय भी लालाबाबू की ओर आकृष्ट हुआ। जो गुणी है वही गुण का आदर करता है। एक दिन लालाबाबू ने बाबाजी के आश्रम में जाकर अपना अभिलाष प्रकट किया। गुरु शिष्य दोनों ही योग्य हैं। दोनों ही एक दूसरे के आचार-व्यवहार से एक प्रकार अवगत हैं। किन्तु परस्पर सम्भाषण का यह पहला अवसर है। साधुओं का चरित्र बड़ा ही विचित्र होता है। ऐसे जगद्विदित, संसार से विरक्त, भगवद्भक्त को शिष्य पाकर मन्त्र देने में क्या कोई विलम्ब करता? किन्तु कृष्णदासजी ने लालाबाबू का पूर्ण रूप से सम्मान करके अत्यन्त कोमल और दीनताभरी बातों में कहा—"बाबा, तुम्हें मन्त्र लेने में अभी कुछ विलम्ब है। कुछ दिन और ठहरो।" लालाबाबू बाबाजी की बात सुन कर विस्मय और विषाद में डूब गये। जो लोग हृदय के प्रौढ़

नहीं हैं, जिन लोगों के मन में अहङ्कार का आभास कुछ कुछ बना है वे ऐसे मौक़े पर क्या करते ? वे आपे से बाहर हो जाते और महात्मा कृष्णदास को निस्पृह, गर्वित, पाण्डित्याभिमानी कह कर दूसरे गुरु की तलाश में अग्रसर होते। बाबाजी ने ऐसा क्यों कहा है, इस बात के तत्त्व की खोज वे नहीं करते। किन्तु लालाबाबू एक भिन्न प्रकृति के मनुष्य थे। उनका स्वभाव और लोगों से विलक्षण था। वे अपनी ही त्रुटि की बात सोचने लगे। उन्होंने अपने मन में पहले यह बात सोची कि मैं सर्वत्यागी होकर श्रीवृन्दावन में वास कर रहा हूँ, अपने ठाकुरद्वारे में एक मुट्ठी भगवान् का प्रसाद पाकर आठों पहर उनका नाम जपा करता हूँ। किन्तु मेरे मन की मलिनता अब भी दूर नहीं हुई है। सेठजी के ठाकुरद्वारे की तरफ़ भिक्षा के लिए जा ही नहीं सकता हूँ। अब भी मेरे मन में शत्रु के प्रति घृणा और विद्वेष-बुद्धि बनी है तब मेरा हृदय पवित्र कहाँ हुआ ? शत्रु, मित्र, मान, अपमान आदि भेदज्ञान के रहते अहङ्कार का भाव नष्ट नहीं हो सकता। मैं इन्हीं गुणों से बाबाजी का कृपाप्रार्थी होने गया था! धन्य हो बाबा कृष्णदास, धन्य है तुम्हारी महिमा। तुम्हारी ही कृपा से मैं तुम्हारा दास होने योग्य बनूँ तो बनूँ।"

जिस सेठ का ज़िक्र ऊपर आया है वह जयपुर का एक महाधनाढ्य महाजन था और भगवान् का पूरा भक्त था।

वृन्दावन में उसका एक बहुत बड़ा ठाकुरद्वारा है और भगवत्सेवा का अच्छा प्रबन्ध है। इस सेठ के ऐश्वर्य की सीमा न थी। मथुरा के आस पास कई जगह इसकी ज़मीदारी थी। मथुरा के इलाक़े में लालाबाबू की भी कुछ ज़मीदारी थी जिसका वार्षिक आय एक लाख रुपये से कुछ अधिक था। इसी ज़मीदारी के सम्बन्ध का कोई झगड़ा बहुत दिनों से उन दोनों (सेठ और लालाबाबू) में चल रहा था; वैमनस्य के कारण एक दूसरे का मुँह तक नहीं देख सकता था। उन दोनों में ऐसी घोर शत्रुता उत्पन्न हुई कि दोनों को प्राणरक्षा तक में सन्देह होने लगा।

लालाबाबू सब जगह भिक्षा माँगने जाते थे, किन्तु सेठजी के ठाकुरद्वारे की तरफ़ जाने में उनके पैर नहीं उठते थे। उनके मन में आता था कि उधर गये कि सिर कटा। पर अब जो हो, उनके मन्दिर में भिक्षा के लिए जाना ही होगा। बात बड़ी भयानक है। लालाबाबू ने जभी अपने मनोमालिन्य की बात जानी तभी उनके मन से मान, अपमान, शत्रुता, अभिमान सब दूर हो गये। वे दूसरे दिन दो पहर को यमुना में स्नान करके अत्यन्त दीन वेष में सेठजी के मन्दिर में जाकर उपस्थित हुए। कलकत्ता के एक सम्भ्रान्त बंगाली राजा को भिक्षुक वेष में देख कर ठाकुरद्वारे के जितने कर्मचारी थे सब रोने लगे। पीछे कहीं मालिक नाराज़

न हो, इस भय से वे लोग कुछ न बोले और बिना मालिक की आज्ञा के भिक्षा देने में भी आगा पीछा सोचने लगे । दैवयोग से उस समय सेठजी मन्दिर में ही उपस्थित थे । एक नौकर ने दौड़ कर उनके पास जाकर लालाबाबू के आने का हाल कहा । उन्होंने झटपट आकर अचम्भे के साथ देखा, सच मुच लालाबाबू ही तो हैं । उनका ऐसा साधारण वेष और अटल वैराग्य देख कर लालाबाबू के ऊपर जो उनका शत्रु-भाव था वह एकदम लुप्त हो गया । लालाबाबू के मुँह से मधुकरी भिक्षा की बात सुन कर सेठजी का हृदय द्रवित हो गया । वे झट लालाबाबू के पैरों पर गिर पड़े । लालाबाबू ने सेठजी को उठा कर गले से लगाया । दोनों की आँखों से प्रेमाश्रु की धारा उमड़ चली । सेठजी ने प्रसाद पाने के लिए उनसे विशेष अनुरोध किया । परन्तु लालाबाबू ने अपने मधुकरी व्रत का भङ्ग करना उचित न समझ बड़े ही विनीत वचन से मुट्ठी भर भीख देने ही की प्रार्थना की ।

सेठजी आख़िर लाचार होकर मधुकरी देने के हेतु आज्ञा देकर आँसूभरी आँखों से व्याकुल चित्त होकर वहाँ से चले गये । लालाबाबू की यह दीनता और विनय देख कर सभी मुग्ध हो गये । वे घोर शत्रु को परम मित्र बना कर ज्यों ही भिक्षा लेकर बाहर आये त्यों ही उन्होंने

देखा, सामने कृष्णदास बाबाजी खड़े हैं। लालाबाबू उनके पैरों पर मूच्छित हो गिर पड़े। बाबाजी ने बड़े ही यत्न से उन्हें उठा कर छाती से लगाया और स्नेहभरी बातों से कहा—"बाबा, तुम्हारा मन्त्रग्रहण का समय अब उपस्थित है* ।"

---

* सुलेखक कालीमय घटक महाशय के द्वारा लिखित और वामा-बोधिनी पत्रिका में प्रकाशित "लालाबाबू की दीक्षा" शीर्षक लेख के आधार पर वामाबोधिनी के सम्पादक महाशय से अनुमति लेकर यह लेख लिखा गया है। ग्रन्थकार ।

छठा परिच्छेद

विद्याविनयोपेता हरति न चेतांसि कस्य मनुजस्य ।
काञ्चनमणिसंयोगो नो जनयति कस्य लोचनानन्दम् ॥१॥

भावार्थ—विनय युक्त विद्या किसके मन को हरण नहीं करती ? मणि-काञ्चन का मेल किस के नेत्रों को नहीं लुभाता ॥१॥

गर्वं नोद्वहते न निन्दति परान्नो भाषते निष्ठुरं
प्रोक्तं केनचिदप्रियं च सहते न क्रोधमालम्बते ॥
श्रुत्वा काव्यमलक्षणं परकृतं सन्तिष्ठते मूकवत्
दोषांश्छादयते स्वयं न कुरुते ह्येतत्सतां लक्षणम् ॥२॥

जो मन में गर्व नहीं रखते, दूसरों की निन्दा नहीं करते, कठोर बात मुँह से नहीं निकालते, दूसरों की कही हुई अप्रिय बात को सह लेते, क्रोध का प्रसङ्ग आने पर भी जो क्रोध नहीं करते, दूसरों का दोषान्वित काव्य सुन कर भी कुछ नहीं बोलते, दूसरों के दोष का उद्घाटन न कर यथासाध्य उन्हें दोष-विमुक्त करने की चेष्टा करते और स्वयं कोई बुरा काम नहीं करते हैं वे अवश्य सज्जन हैं ॥२॥

अशिष्टता

"जहाँ सौजन्य है वहीं उच्च स्वभाव है, और जहां उच्च स्वभाव है वहीं सौजन्य है, अर्थात् सौजन्य और उच्च स्वभाव एक साथ होकर रहता है।" (जातीयविज्ञान)

"जो लोग अपरिचित हैं, विदेशी हैं और बाह्यशिष्टाचार के प्रेमी हैं उन लोगों के साथ भी शिष्टता का जरूर व्यवहार करना चाहिए। पर ऐसी शिष्टता का व्यवहार नहीं जो युक्तिसंगत न हो। अधिक शिष्टता दिखलाने से लोगों को अप्रियता और सन्देह उत्पन्न होता है।"

(बेकन)

कठोर बातें बोलना, दूसरे के अनिष्ट साधन में प्रवृत्त होना, निर्दयता का काम करना और अहङ्कार दिखलाना अशिष्टता है, इसमें कोई सन्देह नहीं। अयुक्त रीति से जो शिष्टता दिखलाई जाती है उसे भी लोग निन्दनीय समझते हैं। जिसे आप कह कर पुकारना चाहिए उसे तुम कह कर पुकारने से जैसा वह अपनी अमर्यादा समझता है वैसे ही जिसे तुम कह कर पुकारना उचित है उसे आप कह कर पुकारने से वह अपनी विशेष प्रतिष्ठा न मान कर केवल अपना उपहास समझता है। वह मारे लज्जा के घबराहट में पड़ जाता है अथवा रुष्ट हो जाता है। यदि वह जानता हो कि उसका परिचय न पाकर उसके साथ इस प्रकार की अयुक्त शिष्टता की जाती है तो इसमें वह रुष्ट न हो कर सिर्फ़

लज्जा के भार से दब जाता है। किन्तु परिचित व्यक्ति के साथ ऐसा आचरण करने से वह ज़रूर अपना अपमान जान कर अधिक रुष्ट होता है।

एक बार कलकत्ता शोभाबाज़ार के एक प्रतिष्ठित धनवान् ब्राह्मण की ठाकुरबाड़ी के आँगन में झूलन के समय एक बड़ी सभा हुई थी। उसमें कितने ही निमन्त्रित धनवान् और प्रतिष्ठित व्यक्ति आये थे। गाना बजाना बड़े ठाठ से हो रहा था। संगीत के सुमधुरस्वर से मोहित होकर क्रमशः अनिमंत्रित सज्जनव्यक्ति भी एक एक कर आने लगे और अपने योग्य आसन पर बैठने लगे। सभा के अध्यक्ष जिन्हें पहचानते थे और जिनको अच्छा स्वरूप, अच्छी पोशाकें देख कर मान्य समझते थे उन्हें आदरपूर्वक सभा में बुलाकर अच्छी जगह बिठलाते थे। इसी समय एक छोटे कुल का मनुष्य गीत-वाद्य से मोहित हो कर सभा में एक किसी कोने में आ खड़ा हुआ। उसका डील डौल और मुख की शोभा तथा चटकीली पोशाक देख कर कोई यह नहीं कह सकता था कि यह भलामानस नहीं है। सभा में बैठने का उसे साहस नहीं होता था, इस कारण चुपचाप वह एक तरफ़ किनारे खड़ा था। सभा के नेता दूर से उसे उस प्रकार खड़ा देख झट उसके पास गये और बड़े आदर से उसका हाथ पकड़ कर सभा में ले आये और अपने पास

बिठलाया। परन्तु वह मारे लज्जा के इतना सहम गया कि सारा बदन उसका पसीने से भीग गया, सिर घूमने लगा और वह घबरा गया। उसका घर इसी महल्ले में था। वह मन ही मन सोचने लगा—"मैंने तो इनके असन्तोष का कभी कोई काम नहीं किया तब इतने लोगों में इन्होंने इस प्रकार मुझे संकुचित क्यों किया? उसने सिर नीचा कर लिया। किसी तरफ़ पलक उठा कर देखना उसके लिए कठिन हो गया उसके मन में होता था कि जैसे समस्त सभा के लोग उसी की तरफ़ देख रहे हैं। उसका यह ख़याल बिलकुल ही ग़लत न था। जो लोग उसे पहचानते थे वे साश्चर्यदृष्टि से उसकी ओर देख रहे थे। इस समय गीत-वाद्य के अमृतमय मधुर शब्द उसके कानों में बरछी की तरह चुभने लगे। आख़िर वह "मुझे एक बहुत ज़रूरी काम है, फिर आऊँगा" यह कह कर जाने के हेतु अध्यक्ष से विनती करने लगा। अध्यक्ष ने उसका दीन वचन सुन कर बड़े विनीत भाव से उसे बिदा किया। वह लम्बी साँस ले झट पट सभा से बाहर हो गया। जब वह चला गया तब अध्यक्ष के एक मित्र ने चुपके से उस व्यक्ति का परिचय उन्हें दिया। सभाध्यक्ष अपनी भूल समझ कर अत्यन्त लज्जित हुए और मन ही मन यह सोच कर पछताने लगे कि मैंने सुजनता दिखला कर ही उसके साथ बड़ा ही अशिष्ट व्यवहार किया। अच्छे से अच्छे

ही काम क्यों न हों, सीमातिक्रान्त होने से वे अप्रशंसनीय हो जाते हैं। लिखा भी है—"अति सर्वत्र वर्जयेत्।"

'आप' और 'तुम' शब्द का व्यवहार

किसी किसी व्यक्ति का स्वाभाविक स्वर ऐसा कठोर होता है कि उनकी साधारण बात चीत भी कठोरता से भरी हुई जान पड़ती है। ऐसे कठोरभाषी लोग जब क्रोधवश आँखें लाल कर यथार्थ ही कठोर वाक्यों का प्रयोग करते हैं तब न मालूम सुननेवालों को कितना भयानक जान पड़ता होगा। ये सब तमोगुणी व्यक्ति कभी कभी विना अपराध के भी लोगों के अप्रिय हो जाते हैं। ये लोग यदि अपने स्वभाव को कोमल बनाना चाहें और लोगों में विनीत कहलाना चाहें तो बात करने के समय अपने ऊपर सतर्क दृष्टि रखने से थोड़े दिनों में वैसे बन सकते हैं। किन्तु जिन्हें दुर्विनीत कहलाने का भय नहीं है, उनका स्वभाव कोमल होना असाध्य नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है।

जो बात एक मनुष्य के मुँह से सुनने में कठोर जान पड़ती है वही बात प्रियभाषी लोगों के मुँह से पगी हुई मालूम होती है। इसका प्रधान कारण केवल स्वभाव की कोमलता और सहृदयता है।

छोटे छोटे बच्चों के मुँह से "तुम, तुम्हाला" जितना मीठा मालूम होता है उतना "आप, आपका" कहना नहीं। जिनका हृदय बालक के समान सरलता और पवित्रता से भरा है, जिन्होंने अपने निश्छल प्रेम से सारे संसार को अपना लिया है। जिनकी स्नेह भरी एक मीठी बात से ही लोगों का हृदय द्रवित हो उठता है, उनके मुँह से "आप" की अपेक्षा "तुम" का ही उच्चारण मधुर मालूम होता है। महात्मा के मुँह से "तुम" शब्द सुन कर जो तृप्ति होती है वह 'आप' सुनने से नहीं होती। "तुम" में जो सापेक्षता का भाव भरा है वह "आप" में नहीं है। कोई महात्मा यदि किसी सम्भ्रान्त को आप कह कर पुकारे तो समझना चाहिए कि उस सम्भ्रान्तव्यक्ति में उनकी आत्मीयबुद्धि नहीं है और न विशेष श्लाघा है। व्यवहारतः जो अधिक स्नेह के पात्र हैं उन्हें तुम कह कर पुकारना अच्छा मालूम होता है और सम्बोधित व्यक्ति को भी यही प्रिय जान पड़ता है। पात्र-भेद से तुम और तुम्हारा आदि प्रयोग जैसा कर्णकटु जान पड़ता है वैसे ही पात्रविशेष में इनका प्रयोग कर्णमधुर होता है। सर्वप्रिय प्रेमिक विद्यासागर महाशय तुम शब्द का ही अधिक प्रयोग किया करते थे। उन्होंने हृदय से प्यार कर सबको अपना बना लिया था। उनके मुँह से यह शब्द जैसा लोगों को मीठा मालूम होता था वैसे ही दूसरे के

मुँह से उस शब्द का प्रयोग सुन कर बुरा लगता था। सामान्य लोगों के प्रयोग करने योग्य शिष्टाचार के अनुकूल, सम्मानसूचक "आप" की अपेक्षा विद्यासागर महाशय का नितान्त आत्मीयतासूचक, स्नेह में पगा "तुम" सम्बोधन से ही विशेष सौजन्य प्रकट होता था। इससे यह न समझो कि ये अपरिचित वा आत्माभिमानी सम्भ्रान्त लोगों के साथ भी यों ही तुम शब्द का प्रयोग करते थे। उन लोगों को वे कभी तुम कह कर सम्बोधन नहीं करते थे। वे जिन पर सन्तानों की भाँति स्नेह रखते थे, वे राजा हों या धनाढ्य व्यक्ति हों उन्हीं को तुम कह कर पुकारते थे। विद्यासागर महाशय के इस अमृतमय सम्बोधन से स्वनामख्यात श्रीयुक्त नीलाम्बर मुखोपाध्याय एम० ए० और हाईकोर्ट के भूतपूर्व जस्टिस द्वारकानाथ प्रभृति कितने ही उच्चपदाधिकारी मान्यगण अपने को धन्य मानते थे। नीलाम्बरबाबू के सदृश उच्चपदस्थ महामान्य व्यक्ति को तुम कहना कुछ साधारण बात न थी। बल्कि उनके पूज्य भी उनके सम्मुख प्रायः तुम कहने का साहस नहीं करते थे तब विद्यासागर महाशय को ऐसा क्या अधिकार था जिसके बल वे इन्हें तुम कहने में ज़रा भी संकोच न करते थे? यह अधिकार उन्हें अवश्य प्राप्त था और केवल उन्हीं को प्राप्त था। क्योंकि वे अपने पवित्र आचरण से जगद्वन्द्य हो रहे थे। इससे

साधारण लोगों को उनका अनुकरण करना उचित नहीं है। सभ्य समाज में यदि कोई आप कह कर सम्बोधन करे तो समझना होगा—वह चाहता है कि अन्यान्य लोग भी उसे वैसा ही सम्बोधन करें। कोई भद्र पुरुष यदि तुम्हें आप कह कर पुकारे तो तुम उसे कभी तुम न कहो। उसके प्रति तुम्हारा तुम कहना नितान्त अनुचित है। किन्तु कितने ही आत्माभिमानी इस पर ध्यान नहीं देते, वे समझते हैं कि दूसरे को तुम कहने ही में अपने बड़प्पन की रक्षा होती है; पर यह बात नहीं है। इस प्रकार की अशिष्टता से उनके बड़प्पन में बड़ा ही आघात लगता है। जो लोग शिष्टता की बातों से अनभिज्ञ हैं वे ही प्रायः ऐसी असभ्यता का काम करके सभ्य समाज में उपेक्ष्य समझे जाते हैं।

जिन लोगों ने अपने उद्योग से, अपनी सच्चरित्रता के गुण से और विद्याविनय से ऊँचा पद प्राप्त किया है, वे कितने ही हीन कुल के क्यों न हों उनके पद की मर्यादा का ह्रास करना वा उन्हें हेय समझना शिष्टता के विरुद्ध है।

हँसी दिल्लगी

किस समय, किस ढंग से, किसके साथ हँसी दिल्लगी करनी चाहिए, इसका विचार भी बहुत ज़रूरी है। हास्य का

मूल कारण आमोद-प्रियता है। किसी के साथ हँसी दिल्लगी करने का मुख्य उद्देश चित्त को प्रसन्न करना है। किन्तु अयुक्त रीति से जो हँसी दिल्लगी की जाती है उसमें ख़ुशी के बदले रंज ही उठाना पड़ता है। वह हँसी किस काम की जिससे दूसरे के हृदय में दुःख पहुँचे। कितने ही लोगों ने दूसरे का अयुक्त परिहास करके अपने प्राण तक गवाँ दिये हैं। इस कारण इस विषय में सब को सावधान रहना ज़रूरी है। ऐसी हँसी किसी के साथ न करो जिससे उसका परिणाम भयङ्कर हो उठे। हँसी वहीं तक अच्छी है जहाँ तक परस्पर उसे विनोद का कारण समझें। जब हँसी से एक के हृदय में चोट पहुँची तब वह हँसी हँसी न रही। वह ईर्ष्या-द्वेष का रूप धारण कर भारी अनिष्ट उत्पन्न करती है। बुरे ढंग से परिहास करने पर दोनों में असमञ्जस हो सकता है और उससे दोनों ही का अमङ्गल हो सकता है। असत् परिहास, असभ्यता, अश्लील बातों से किसी के साथ दिल्लगी करना सर्वथा त्याज्य है। क्योंकि ऐसे अनुचित परिहास से असन्तोष का बीज अङ्कुरित होता है। जो लोग शिष्ट हैं, सज्जन हैं, वे अनुचित परिहासकर्ता के साथ प्रायः बात चीत नहीं करते। कदाचित् उनसे कुछ कहने का प्रयोजन हुआ भी तो प्रयोजन की बातें करके शीघ्र ही वहाँ से टल जाते हैं। जो लोग सभ्य हैं, सुशील हैं, उनके निकट दुर्वोध, दिल्लगीबाज़

सम्मान नहीं पाते । ऐसे ऐसे लोगों का सम्मान अशिक्षित समाज में ही हुआ करता है ।

(वामाबोधिनी पत्रिका)

झूठा परिहास

तेरह सौ शताब्दी में इँगलैंड के लोग डायन का विश्वास करते थे । बल्कि राजा ने यह क़ानून बना दिया था कि जो वृद्धा स्त्री डायन मन्त्रद्वारा किसी का अनिष्ट साधन करेगी तो उसको प्राणदण्ड दिया जायगा । एक समय एक वृद्धा उपर्युक्त अपराध में एक न्यायकर्ता के सामने लाई गई, न्यायकर्ता ने उस स्त्री के डायनपन के सम्बन्ध की सब बातें सुन कर घबराहट के साथ वकीलों को सम्बोधन करके कहा—"महाशयगण, मैं आप लोगों के निकट अपनी एक भूल स्वीकार करने के लिए बाध्य होता हूँ । युवापन में मेरा स्वभाव बड़ाही चञ्चल था, लोगों के साथ हँसी ठट्ठा करना मुझे बड़ा ही अच्छा लगता था । मुझे स्मरण हो रहा है, उस युवत्व-काल में मैंने हँसी में एक छोटे से काग़ज़ के टुकड़े पर एक कविता लिख कर इस स्त्री को यह कह कर दिया था कि इसमें डायन का मन्त्र लिखा है । मैं समझ रहा हूँ यह वृद्धा मेरा मिथ्या परिहास न समझ उसी काग़ज़

के टुकड़े को लेकर डायन की वृत्ति करने में प्रवृत्त हुई है। इसका अपराध नहीं। अपराध मेरा ही है। इसके पास जो मन्त्र लिखित काग़ज़ का टुकड़ा है, उसे आप लोग खोल कर देखेंगे तो मेरे कथन की सत्यता प्रमाणित होगी।" वकीलों ने उस काग़ज़ के टुकड़े में ठीक न्यायकर्ता की लिखित कविता देखी।

(वामाबोधिनी पत्रिका)

भयंकर परिहास

इँगलैंड के किसी बोर्डिंग हाउस (छात्रालय) में एक अत्यन्त साहसी युवा था। वह भूत का विश्वास नहीं करता था। उसके कई सहपाठी और साथी युवकों ने आपस में विचार करके स्थिर किया कि उसे एक दिन भूत बन कर डराना चाहिए। इस तरह विचार करके उन लोगों ने उससे जाकर कहा—"देखो मित्र, मेरे यहाँ इन दिनों भूत का बड़ा ही उपद्रव हो रहा है। हम लोगों ने भूत को अपनी आँखों देखा है।" साहसी युवक ने हँस कर कहा, "क्या पागल हुए हो?" क्या तुम लोग भूत को सच-मुच मानते हो? भूत कोई चीज़ नहीं है। दिमाग़ में ज्यादा गरमी पहुँचने और शरीर कमज़ोर होने से नाना प्रकार के काल्पनिक दृश्य

देखने में आया करते हैं; भयङ्कर मूर्ति की भावना होने लगती है। उसी को लोग भूत समझ बैठते हैं। जब तक मैं अपनी आँखों से न देखूँगा, तब तक मुझे विश्वास न होगा।" साथियों ने कहा—"आजकल तो प्रायः हम लोगों को नित्य ही भूत का दर्शन होता है। तुम भी किसी दिन उसे देखोगे। जो हो, इसको किसी तरह यहाँ से भगाना चाहिए।" युवक ने कहा—"उसके भगाने की बात क्या कहते हो? मैं आज ही पिस्तौल में गोली भर कर रख दूँगा। यदि कोई दुष्ट मनुष्य भूत बन कर हमलोगों को डराता है तो वह ज़रूर ही मरेगा। नहीं तो समझूँगा, भूत यथार्थ ही होता है।"

कुछ दिन के बाद एक रात में जब सब लोग सो गये तब उस युवक के साथियों में से एक व्यक्ति चुपचाप उस साहसी युवक के सोने की कोठरी में प्रवेश करके काले कपड़े से अपना सारा बदन ढाँप कर उसकी चारपाई के पास खड़ा होकर गम्भीरस्वर में गुनगुनाने लगा। इसके पहले ही इस व्यक्ति ने उनके पिस्तौल में से, किसी तरकीब से, गोली निकाल ली थी। सीसे की धुँधली रोशनी में वह कृष्णवस्त्रावृत्त मनुष्य बड़ाही भयङ्कर दीखता था। उस युवक ने चौंक कर अपने तकिये के नीचे से पिस्तौल निकाल कर उस काले डरावने जीवित भूत से कहा—"यदि तुम मेरे साथियों में कोई हो तो हाथ जोड़ विनय करता हूँ कि परिहास परित्याग

करो, नहीं तो तुम्हारा मृतक शरीर अभी धरती पर लोट जायगा।" वह काला भूत ज़रा भी न डरा और उस युवक की तरफ़ अग्रसर होने लगा। पिस्तौल का शब्द घर में गूँज उठा, किन्तु वह ज्यों का त्यों खड़ा रहा। उस भूत मूर्त्ति ने जो पिस्तौल से पहले ही गोली निकाल ली थी वह उस युवक की देह पर चुपचाप फेंक दी। युवक पिस्तौल को व्यर्थ होते देख भय से मूर्च्छित होकर बिछौने पर लेट गया। वह कृत्रिम भूत विकट हास्य करके वहाँ से चल दिया। कुछ देर के बाद उसने वेष बदल उस युवक के पास आकर देखा तो उसका मृतक शरीर शय्या पर पड़ा है।

जिस परिहास से मनुष्य की जान ही चली जाय, उसे कोई परिहास कैसे कह सकता है? वह परिहास नहीं किन्तु प्राणसंहारिणी लीला है।

इँगलैंड में इस तरह की एक और घटना होने की बात सुनी गई है। किसी स्थान में एक व्यक्ति भूत बन कर परिहास करने जाकर पिस्तौल की गोली से अपनी जान गवाँ कर यथार्थ ही भूत बनगया। पहली गोली ख़ाली गई। दूसरी वार की गोली ने परिहासकारी का काम तमाम कर दिया।

एक दिन एक सज्जन ने कुरसी से उठ कर अन्यमनस्क-भाव से ज्योंही कुरसी पर बैठना चाहा त्योंही धड़ाम से धरती पर गिर कर बड़ी चोट खाई। महीनों तक उस निर-

पराधी बेचारे ने चारपाई का सेवन किया। उनके गिरने का कारण यह हुआ कि उनके बगल में ही उनके एक मित्र बैठे थे। वे सज्जन जब कुरसी से उठे थे उसी समय उनके निर्बोध मित्र ने उनकी कुरसी ज़रा हटा दी थी। जब वे सज्जन धरती पर गिर पड़े तब वे मित्र अपना आयास सफल होते देख ख़ूब ज़ोर से हँस उठे। उनके आनन्द की सीमा न रही। किन्तु उस सज्जन के शरीर में जितनी चोट लगी, उससे कहीं बढ़ कर अपने मित्र के इस अनुचित व्यवहार से उसके हृदय में चोट लगी। उस दिन से वे सज्जन अपने उक्त परिहास-रसिक मित्र के पास बैठने की कौन बात, उनकी छाया का स्पर्श करना तक नहीं चाहते थे। यही परिहास दोनों में विरोध का कारण हो गया। शरीर में हानि पहुँचाने वाला या और ही तरह का अनिष्ट करने वाला परिहास परम अनुचित है। कितने ही दुर्बोध बालक और अशिक्षित युवा रेलगाड़ी और ट्रामगाड़ी के रास्ते में लोहे की पटरी पर पत्थर का टुकड़ा अथवा कुछ मोटी लकड़ी रख कर दूर से यह देखना चाहते हैं कि उसका परिणाम क्या होता है। गाड़ी की गति रुक जाने अथवा कुछ और ही तरह का अनिष्ट संघटित हो जाने पर उन मूर्खों को बड़ा हर्ष होता है। इस प्रकार के सामान्य पैशाचिक परिहास से कभी कभी इतना बड़ा अनिष्ट संघटित होता है कि सैकड़ों मनुष्यों को जीवन से हाथ धोना पड़ता है। साधुता का एकदम अभाव और अशिक्षा

ही उन राक्षसरूपधारी मनुष्यों को ऐसे बुरे परिहास की ओर झुकाती है। प्राणापहारी परिहास-रसिकों के साधारण दुष्ट व्यवहार से जैसे महा भयङ्कर अनिष्ट हो सकता है वैसे ही सहृदय साधुव्यक्ति के सामान्य उद्योग से कितनों ही अनिष्टों का निवारण हो सकता है। नीचे की लिखित यथार्थ घटना से इसकी सत्यता भली भाँति प्रमाणित होती है। दूसरे की अनिष्ट घटना की बात सुन कर जो मूर्ख हैं, जो राक्षसीय परिहास के लोलुप नरपिशाच हैं वे मारे ख़ुशी के नाचने लगेंगे, इसमें सन्देह नहीं।

ख़ूब ज़ोर से वर्षा होने के कारण गोबरडाङ्गा के निकटवर्तिनी छोटी सी अपरयमुना नदी के दोनों किनारे पानी में डूब गये। नदी का प्रवाह बड़े प्रखरवेग से बहने लगा। जहाँ तहाँ पुल टूटने लगे। गोबरडाङ्गा से मछलन्दपुर तक रेल का मार्ग पानी के बाढ़ से तहस नहस हो गया। पटरी के नीचे की ईंट-पत्थर और मिट्टी बह कर कहाँ गई क्या हुई, इसका कुछ पता नहीं, किन्तु यह हाल रेलवे कर्मचारी को मालूम न था। उन्हें सड़क टूट जाने की किसी ने ख़बर नहीं दी। उसी दिन खुलना से एक ट्रेन बेख़ौफ़ बड़ी तेजी के साथ भक् भक् करती हुई आ रही थी। रेलवे सड़क के पास ही एक धीवर मछली मार रहा था। वह गाड़ी आते देख और एक साथ हज़ारों मनुष्यों की मृत्यु होने की बात

सोच कर गाड़ी रोकने के लिए अपने पहनने का कपड़ा ऊपर उठा कर पताका की तरह हिलाने लगा। किन्तु ड्राइवर उसका वह सङ्केत नहीं समझ सका। गाड़ी अपनी गति में बराबर आती ही रही। धीवर ने जब देखा कि दो ही एक मिनट में गाड़ी यात्रियों को लिये नदी के गर्भ में गिर कर रसातल जाना चाहती है, तब वह अपने प्राण का कुछ मोह न कर अतिशीघ्र रेलवे लाइन पर आकर खड़ा हो गया और कपड़ा हिला कर संकेत करने लगा। ड्राइवर ने सामने एक आदमी को पटरी पर खड़ा देख गाड़ी रोकी। धीवर की इस धर्म-बुद्धि और सदय व्यवहार से हज़ारों मनुष्यों की जान बची और तीस चालीस हज़ार रुपये लागत की रेलगाड़ी नष्ट होने से बची। इस धीवर की सहृदयता और समयोचित कार्य्यकारिता के जोड़ का दृष्टान्त इतिहास-ग्रन्थों में कमही पाया जाता है।" (सञ्जीवनी)

इस तरह की और इसके विपरीत आचरण की सैकड़ों ही घटनायें रोज़ रोज़ हुआ करती हैं जिनसे कितने ही लोगों का कल्याण होता है और कितनों ही का सर्वनाश होता है। इसकी गणना कोई कहाँ तक कर सकता है। हमारे देश में अब भी कहीं कहीं देखा जाता है कि कोई कोई स्त्री-पुरुष साधारण बात चीत करते वक्त किसी विशेष विषय को समझा कर कहने अथवा श्रोता (सुननेवाले) का ध्यान

आकृष्ट करने के अभिप्राय से बार बार उसके अङ्ग पर आघात करते हैं। जिन्हें इस प्रकार चोट खाने की आदत नहीं है वे मन ही मन कुढ़ते हैं और अपनी अवज्ञा समझते हैं। इस कराघात से उन्हें क्लेश भी होता है। किन्तु वक्ता को इस बुरी आदत के चिर अभ्यास से श्रोता के मन में दुख होने की बात नहीं खटकती। कभी कुछ खटकती भी है तो उस पर विशेष ध्यान नहीं देते। हास्य-परिहास के समय तो ऐसे स्वभाववाले लोगों का आचरण और भी असह्य हो उठता है।

चण्डीदत्तशर्म्मा * का यह अभ्यास था कि जो कोई उनके पास बैठता था उसके साथ वे कराघात-पूर्वक बात चीत करते थे। सुननेवाले को यह बहुत बुरा मालूम होता था। आख़िर वह उनके पास से धीरे धीरे हटने लगता था। किन्तु ज्योंही वह खिसकता था त्योंही शर्म्माजी भी उसके साथ खिसकते जाते थे और कराघात का व्यवहार बराबर करते जाते थे। यों ही कभी कभी अपनी जगह से खिसकते खिसकते आठ दस हाथ तक दूर चले जाते थे। वे एक प्रतिष्ठित व्यक्ति थे। इसी से अकसर लोग उनसे मिलने जाते थे। उनके इस स्वभाव से जो लोग परिचित थे

---

* चण्डीदत्तशर्म्मा मेरे एक परिचित व्यक्ति थे। प्रसङ्गवश उनका स्वभाव मैंने यहां लिखा है। अनुवादक।

वे उनसे कुछ दूर हट कर बैठते थे पर उन्हें तो कराघात का इतना प्रबल अभ्यास था कि वे बिना कराघात किये वार्त्तालाप कर ही नहीं सकते थे। अतएव वे ख़ुद उस आगन्तुक के पास भिड़ कर बैठ जाते थे और उसी तरह अपने हाथ का काम जारी रखते थे। कितने ही लोग तो उनके इस कराघात के डर से उनसे मिलने ही नहीं जाते थे। नीच जाति का कोई मनुष्य जब कार्य्यवश उनके यहाँ जाता और दूर खड़ा हो कर उनसे कुछ कहता तब वे धरती पर बार बार हाथ पटक कर उसकी बातों का जवाब देते थे।

बात चीत के समय कोई ऐसी बुरी आदत न चलना चाहिए जिससे सुननेवाले के मन में किसी प्रकार की घृणा उत्पन्न हो। खेद का विषय यह है कि उनके इस बुरे अभ्यास का अनुकरण छोटे छोटे बालक बालिकागण भी करने लग जाते हैं। इस प्रकार के कुत्सित अभ्यास को भी अशिष्टता का ही एक अङ्ग मानना चाहिए। जो अशिक्षित हैं, जिन्हें गुरुजनों से कभी अच्छी शिक्षा नहीं मिली है, वे ही लोग ऐसी अशिष्टता की बातों को शरण देते हैं।

शिष्ट परिहास

मूर्ख लोगों का परिहास अश्लीलता से भरा हुआ होता है, जिसे कोई पसन्द नहीं करता। बल्कि जिसके साथ परि-

हास किया जाता है वह .खुश न हो कर अपना अपमान समझता है। किन्तु जो लोग सुशिक्षित हैं और शिष्ट हैं उनका परिहास सबके हृदय को प्रसन्न करता है; सभी लोग उस परिहास को पसन्द करते हैं और कुछ न कुछ उस से शिक्षा भी ज़रूर ग्रहण करते हैं। कभी कभी तो उस परिहास से विनय और शिष्टता का विशेष परिचय मिलता है। कितनेही लोग यह समझते हैं कि जो विद्वान् और शिष्ट हैं वे सर्वदा ही गम्भीर भाव धारण किये रहते हैं। वे किसी के साथ हास्य, परिहास नहीं करते। किन्तु वास्तव में विद्वान् शिष्टगण जैसे प्रफुल्लहृदय, सरस बात बोलने में प्रवीण और समीचीन परिहास के प्रिय होते हैं, वैसे संसार में और लोग नहीं होते।

शिष्ट जनों के परिहास से शिक्षा मिलती है, बुद्धि बढ़ती है और सुरुचिपूर्ण प्रसन्नता प्राप्त होती है। यदि तुम लोग शिष्ट जनों के सदृश परिहास करने में समर्थ न हो सको तो उन परिहासों को अवश्य त्याग दो जो दूसरे को बुरा लगे और जिससे किसी के मन में विनोद न होकर प्रत्युत घृणा उत्पन्न हो। मान लो कि जिस बुरे परिहास से तुम केवल अपने मन में ही विनोद पाने की इच्छा रखते हो, वही परिहास यदि कोई दूसरा व्यक्ति तुम्हारे साथ करे तो क्या उसे वैसा ही विनोदास्पद समझोगे? फिर यह परिहास ही किस काम का

जो सब के हृदय में हर्षप्रद न हुआ । दूसरे के हृदय में दुःख पहुँचा कर अपने हृदय में आनन्द मनाना बड़ी ही घृणा का विषय है ।

मीठा तिरस्कार

जिनका मधुरभाषण और निश्छल व्यवहार स्वाभाविक है, उनका तिरस्कार भी माधुर्य से भरा होता है । वे इस युक्ति से तिरस्कार करते हैं जिससे तिरस्कृत व्यक्ति के मन में क्रोध उत्पन्न नहीं होता, प्रत्युत शिक्षा का ही लाभ होता है । कितने ही लोग आँखें लाल कर कठोर वाक्यों से जब किसी को फटकार बताते हैं तब वह तिरस्कृत व्यक्ति रुष्ट होता है, और उसके मन में शत्रुता उत्पन्न होती है । अभिप्राय यह कि तिरस्कार करने का फल विपरीत होता है । इसलिए जो सज्जन हैं वे सहसा किसी की भर्त्सना नहीं करते । हम लोग अपने बन्धु-बान्धवों को दोषी देख कर प्रायः उनका तिरस्कार किये बिना नहीं रहते । मधुरभाषण से किसी का सत्कार करना कठिन नहीं है किन्तु शिष्टतापूर्वक किसी का तिरस्कार करना बड़ा ही कठिन है । सुशिक्षित, शान्तप्रकृति पुरुषों के अतिरिक्त और लोग इस तरह की मीठी मार मारना नहीं जानते । यह उन्हीं सज्जन महात्माओं का काम है कि

मीठे तिरस्कार के द्वारा कितने ही दुर्जन व्यक्तियों के कठोर स्वभाव को कोमल बना डालते हैं। उनके इस मधुर तिर-स्कार का अनुकरण सबको करना चाहिए।

एक समय किसी दुष्ट ने महात्मा वायुजित् को बहुत दुर्वचन कहा और उनके माथे पर ऐसी ज़ोर से तानपूरे का प्रहार किया कि तानपूरा टूट गया। महात्मा वायुजित् ने उसके इस दुर्व्यवहार को चुपचाप सह लिया। उन्होंने अपने घर आकर दूसरे दिन सवेरे नौकर के हाथ एक थाल मिठाई और दो रुपये देकर और यह कह कर उस दुष्ट के पास भेजा कि कल रात में जो मुझे कटुवचन कह कर उन्होंने अपना मुँह कड़ुआ किया था, उसके बदले वे यह मिठाई खायँ और इन रुपयों से वे दूसरा नया तानपूरा ख़रीद लें।" वह मनुष्य वायुजित् की ऐसी शिष्टता और सुजनता देख कर बड़ा ही लज्जित हुआ और अपनी दुर्जनता की बात याद कर बार बार पछताने लगा। उसने तुरंत वायुजित् के पास जाकर उनसे क्षमा माँगी और वह सर्वदा के लिए उनका शिष्य बन गया।

"मेथडिष्ट सम्प्रदाय के संस्थापक सुप्रसिद्ध वास्ली किसी एक उच्चपदस्थ राजकर्म्मचारी के साथ एक गाड़ी में बैठ कर कहीं जा रहे थे। जब कुछ दूर आगे गये और गाड़ी बदलने का समय समीप आया तब महात्मा वास्ली ने उस

युवा कर्मचारी से कहा—"मैं आपका साथ पा कर अत्यन्त प्रसन्न हुआ हूँ। पर एक बात के लिए मैं आपसे कुछ प्रार्थना करता हूँ।" युवा ने कहा—"आपकी अभ्यर्थना पूरी करने के लिए मैं यथासाध्य चेष्टा करूँगा। आप मुझ से कभी कोई अनुचित काम के लिए तो अनुरोध करेंहीगे नहीं।" वास्ली ने कहा—"मुझे आपके साथ अभी बहुत दूर तक जाना है। इससे आपके निकट मेरा यही सानुरोध निवेदन है कि यदि मैं अपने को भूल कर शपथ करने लगूँ अथवा कोई अश्लील बात बोलूँ तो आप उसी घड़ी मेरा विलक्षण रूप से तिरस्कार करें।" यह कहने की आवश्यकता नहीं कि वह युवा पुरुष ही इन दोनों दोषों से दूषित था। वह उनके इस गुणकारी, परमौषधरूप, और मधुर सच्चे तिरस्कार का मर्म समझ गया। युवक ने हँस कर कहा—"इस तरह का तिरस्कार आपके सिवा किसी और से मिलने की आशा नहीं थी। उस युवा ने उस दिन से सावधान होकर अपने दोनों दोषों को धीरे धीरे दूर कर दिया। महात्मा का मीठा तिरस्कार व्यर्थ न हुआ।"

(वामाबोधिनी)

अच्छे उपदेशों के द्वारा जो काम सिद्ध नहीं होता वह कभी कभी कोमल तिरस्कार के द्वारा सिद्ध हो जाता है, जो काम अनेक प्रकार की कठोर भर्त्सना और सैकड़ों प्रकार

की ताड़ना से सफल नहीं होता वह एक साधारण मीठे तिरस्कार से सफल हो जाता है। मीठे तिरस्कार से तिरस्कार करने वाले व्यक्ति पर तिरस्कृत व्यक्ति को क्रोध या द्वेष उत्पन्न न होकर श्रद्धा और भक्ति का उदय होता है। तिरस्कार की मधुरता और कोमलता में ऐसी कुछ शक्ति है जो उद्दण्डता और क्रोधान्धता को दूर कर देती है। जब उस व्यक्ति के मन में औद्धत्य और क्रोध का भाव नहीं रहता तब वह मारे लज्जा के सूख कर काठ हो जाता है और अपने यथार्थ दोष पर दृष्टि देकर मन ही मन पछताने लगता है। अपने दोषों पर उसे आप ही आप घृणा उत्पन्न होने लगती है।

कोई यह न समझे कि मीठा तिरस्कार केवल मीठी बातों में ही धरा है वह धीर, गम्भीर, सच्चरित, सहृदय व्यक्ति के स्वाभाविक कोमल व्यवहार से और निर्दयों के प्रति सदय आचरण से प्रकट होता है। उन महानुभावों का इस प्रकार का कोमल आचरण ही अप्रकट रूप से मधुर तिरस्कार का आकार धारण करता है और वही मधुर तिरस्कार तिरस्कृत व्यक्तियों के हृदय में परम-हितकारी उपदेश का काम करता है। मधुर तिरस्कार तिरस्कर्ता और तिरस्कृत दोनों ही के लिए शिक्षा की सामग्री है।

सातवाँ परिच्छेद

परगुह्यगुप्तिनिपुणं गुणमयमखिलैः समीहितं नितराम् ।
ललिताम्बरमिव सज्जनमाखवइव दूषयन्ति खलाः ॥१॥

भावार्थ—दूसरों के अवगुण को छिपानेवाले, गुणमय सज्जन, जो सुन्दर वस्त्र के समान सबके अपेक्षित हैं उन्हें चूहों के सदृश दुष्ट लोग दूषित कर डालते हैं ॥ १ ॥

कतिपयदिनपरमायुषि मदकारिणि यौवने दुरात्मानः ।
विदधति तथापराधं जन्मैव यथा वृथा भवति ॥ २ ॥

यह जीवन कै दिन का है ? तथापि दुरात्मा लोग जवानी के जोश में आकर ऐसा बुरा काम कर बैठते हैं जिससे उनका मनुष्य-जन्म वृथा हो जाता है ॥ २ ॥

विद्या विवादाय धनं मदाय
शक्तिः परेषां परिपीडनाय ।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय ॥ ३ ॥

दुष्ट जनों की विद्या विवाद के लिए, धन गर्व के लिए, और शक्ति दूसरों को सताने के लिए होती है किन्तु जो सज्जन हैं उनकी विद्या ज्ञान के लिए, धन दान के लिए और शक्ति दूसरों के त्राण के लिए होती है ॥ ३ ॥

सौजन्यधन्यजनुषः पुरुषाः परेषां
दोषानपास्य गुणमेव गवेषयन्ति ।
त्यक्त्वा भुजङ्गमविषाणि पटीरगर्भात्
सौरभ्यमेव पवनाः परिशीलयन्ति ॥ ५ ॥

जो सज्जन पुरुष हैं, वे दूसरों के दोषों को ग्रहण न कर गुणभाग का ही ग्रहण करते हैं जैसे पवन चन्दनस्थित सर्प के विष का ग्रहण न करके सुगन्ध मात्र का ग्रहण करता है ॥ ४ ॥

जातीय दुर्बलता

भारतवासी हिन्दुओं में स्वजातिद्वेष प्रायः सर्वत्र देखा जाता है, और सब दोषों में यदि कोई प्रधान दोष है तो यही। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो अपनी जाति की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न और निन्दा सुन कर दुःखी होते हैं। किन्तु यह स्वभाव भारतवासियों का अकृत्रिम नहीं है। दूसरे के

दोषों को ढूँढ़ना या दूसरे की निन्दा करना भारतवासी हृदय से पसन्द नहीं करते। वे किसी विरोध के कारण ही ऐसा करते हों यह भी नहीं। यदि उनका यही आन्तरिक अभिप्राय होता तो भारत देश की निन्दा उन्हें असह्य क्यों होती। यदि कोई यह कहे कि भारतवर्ष बहुत दिनों से पराधीनता की बेड़ी पहन चुका है और यह अज्ञानता और भीरुता का घर बना है, इसमें आर्य्यगण बहुत थोड़े दिनों से रहने लगे हैं, तो ऐसा कहनेवाला भारतवासी के निकट ज़रूर हास्यास्पद होगा। भारतवासी उसे भारत को सर्वोत्कृष्ट होने का शतशः प्रमाण शास्त्रों से निकाल कर दिखलाये विना न रहेंगे, और भारतवर्ष ही आर्य्यों का सबसे प्राचीन वासस्थल है, इसे इतिहास द्वारा सिद्ध कर देंगे।

माँ अपने सन्तान को क्रोधवश ताड़ना करती है किन्तु दूसरा कोई उसे मारने आता है तो वह उसकी रक्षा करती है। इससे यह समझना चाहिए कि सन्तान पर माता का क्रोध आन्तरिक नहीं रहता। भारतवासी की निन्दा भारत-वासी के मुँह से सुनी जाती है, किन्तु विदेशियों के मुँह से भारतवासी की निन्दा सुनना सह्य नहीं होता। भारतवासी लोग हृदय से ऐसा नहीं चाहते कि भारत की कोई निन्दा करे। कभी कभी लोगों के मुँह से जो यह सुनने में आता

है कि "भारत नष्ट हो गया, भारतवासियों को अब सुख कहाँ? देश का दिन दिन अधःपात हो रहा है।" यह भारतवासियों के अन्तःकरण की बात नहीं है। अन्तःकरण से वे भारत की दशा पर खेद नहीं प्रकट करते। यदि वे हृदय से भारत की उन्नति चाहें और उसके लिए उचित उद्योग करें तो भारत को उन्नत दशा में प्राप्त होते देर न लगे। यदि भारत के स्त्री-पुरुष, बालक-बालिका गण दूसरे की निन्दा और व्यर्थ के वाद-विवाद में समय नष्ट न कर अपने जीवन के कर्तव्य का पालन करें, दूसरों के सद्गुणों को ग्रहण करें और अपने बुरे अभ्यासों तथा दोषों को दूर कर दें तो थोड़े ही दिनों में भारत का कलङ्क मिट जाय।

जो लोग अपनी उन्नति और अवनति तथा अपने हिताहित के विषय की बात नहीं सोचते, वही अन्यान्य लोगों की बातें चला कर अपने सदुपयुक्त समय को नष्ट करते हैं। जो आलसी हैं उन्हीं को परायों के भले बुरे कामों की समालोचना करने का अवसर प्राप्त होता है। किन्तु जो लोग अपने कर्तव्य में लगे रहते हैं उन्हें तो अपना काम पूरा करने ही का समय नहीं मिलता; दूसरे की बात करने का उनको अवकाश कहाँ। सब लोग यदि अपने अपने कर्तव्य का उचित रीति से पालन करें तो कोई कलङ्क का

भागी नहीं बन सकता। हम लोगों में दूसरों के छिद्रान्वेषण करने के अनेक कारण हैं। किन्तु उनमें प्रधान कारण स्वार्थपरता ही है। पराये की निन्दा करके हम लोग भले ही जितना चाहें आनन्द का अनुभव क्यों न करें पर अपनी निन्दा की बात सुन कर हम मरने पर उद्यत हो जाते हैं। अपनी निन्दा का यथार्थ कारण ढूँढ़ कर उसे दूर न कर निन्दकों के साथ शत्रुता का व्यवहार करने लगते हैं।

यदि कोई किसी पड़ोसी का नाम लेकर, उसकी निन्दा करने लगे तो वह बड़ी प्रसन्नता से उसे सुनेगा और पड़ोसी की निन्दा का प्रतिवाद न करके उसमें अपनी तरफ़ से और योग-दान देगा और अपने पड़ोसी का दोष सर्वत्र फैलाने के लिए उस निन्दक को उत्साहित करेगा।

किन्तु उसी व्यक्ति से यदि कोई यह कहे कि "तुम घृणित महल्ले में रहते हो, तुम्हारे महल्ले की निन्दा जहाँ तहाँ सुनने में आती है—इत्यादि, तो वह तुरन्त उसकी बात में अपनी अरुचि दिखला कर यथाशक्ति प्रतिवाद करने की चेष्टा करेगा और अपवाद का मिथ्या कारण कह कर उसे अपने महल्ले को निष्कलङ्क होने का विश्वास दिलावेगा। इसी प्रकार जब कोई विदेशी किसी सम्प्रदाय वा किसी प्रदेश विशेष की ओर लक्ष्य करके निन्दा करता है तब

भिन्न प्रदेश के अधिवासी वा भिन्न सम्प्रदाय के लोग उस पर विशेष ध्यान नहीं देते। किन्तु वही विदेशी यदि किसी एक प्रदेश का नाम न लेकर समस्त भारत की निन्दा करने लग जाय तो वे पहले की तरह चुप न हो रहेंगे, बल्कि वे भारत के यथार्थ दोषों को भूल कर मुक्त कण्ठ से भारत का गुण-गान करने लगेंगे। और तब वे समझेंगे कि निन्दा उन्हीं की हो रही है। विदेशियों के दुरपवाद से भारत का उतना अनिष्ट नहीं होता जितना भारतवासियों के परस्पर की निन्दा से हो रहा है। हिंसा, द्वेष और निन्दा के वशवर्ती हो कर यदि एक आदमी दूसरे की निन्दा करे तो दोनों ही का दुर्नाम लोगों में विख्यात होता है। उसी तरह एक प्रदेशवासी यदि दूसरे प्रदेशवासी की और एक सम्प्रदाय के लोग दूसरे सम्प्रदाय की परस्पर निन्दा करें तो समस्तदेश निन्दा से क्यों न भर जाय। इसी निन्दावाद को देश का भयङ्कर शत्रु करके मानना चाहिए। जब हम अपने देश की आप ही निन्दा करेंगे, अपनी जाति का आप ही उपहास करेंगे तब अन्य देशी लोग हमारे देश की निन्दा करने में कब चूकेंगे। हम लोगों के मुँह से भारत की निन्दा सुन कर ही विदेशी लोगों को भारत की निन्दा करने का अवसर प्राप्त होता है। जब हम अपने को आप ही निन्द्य समझेंगे तब दूसरा भी हमें अवश्य ही निन्द्य समझेगा। जब तक भारतवासी

परस्पर के विभिन्न भाव को न छोड़ेंगे तब तक भारत की प्रशंसा सुनने का सौभाग्य उन्हें प्राप्त नहीं हो सकता।

प्रतिष्ठित व्यक्तियों के गुण की प्रशंसा तो अवश्य करनी ही चाहिए, किन्तु उनके सामान्य दोषों पर दृष्टि न देना बड़े महत्त्व की बात है। आज कल ऐसे कितने ही छिद्रान्वेषी हैं जो दूसरे के अनेक गुणों की ओर दृक्पात न कर उसके सामान्य दोष की बात ले कर ही उसे दोषी ठहराते हैं और प्रशंसा के बदले उसकी निन्दा करते हैं। खेद का विषय है कि हम लोग अपने महत्त्व को खो बैठे हैं। स्वार्थपरता ने महत्त्व की जगह इस समय अपने अधिकार में कर ली है। जब तक स्वार्थपरता की प्रबलता रहेगी तब तक हम लोग महत्त्व का कोई काम नहीं कर सकेंगे।

अन्यान्य देश के लोग हमेशा अपने कामों में लगे रहते हैं, अपनी उन्नति की बातें सोचा करते हैं। किन्तु हम भारतवासी आलस्य से समय बिताने ही को सुख समझ बैठे हैं। जिन लोगों को अपने जीवन-निर्वाह योग्य स्थायी सम्पत्ति मिल गई है वे समझते हैं संसार में उनके करने योग्य कोई काम नहीं; वे किसी प्रकार के उद्यम को आवश्यक नहीं समझते। किसी प्रकार का सपरिश्रम व्यापार करना उनके लिए बड़ी ही लज्जा का विषय है। जो लोग

किसी आफ़िस के कर्मचारी हैं, वे यही सोचते रहते हैं कि कब उन्हें पेन्शन मिलेगी । दैवयोग से जहाँ उन्हें पेन्शन मिली कि सब कामों से हाथ खींच कर आराम से अपने जीवन का शेष समय बिताने लगे। किन्तु जब किसी अङ्गरेज़ कर्मचारी को ऐसा अवसर प्राप्त होता है तब वे चुपचाप बैठ कर आराम करने की बात न सोच कर बड़े उत्साह के साथ कोई लाभदायक भारी व्यापार ठान देते हैं। वे उसी को सुख-साधन समझते हैं। उसी में उन्हें पूरा आनन्द मिलता है।

आलसी होने का एक कारण दैहिक दौर्बल्य भी है। जिनका शरीर बलिष्ठ नहीं है वे ही प्रायः आलस्य की शरण लेते हैं। इसी दुर्बलता के दोष से हम लोगों को निरुत्साह होकर चुपचाप बैठ कर आराम करने की बात सूझती है। परिश्रम से देह को बचाये रहते हैं और काम की बात से कोसों भागते हैं।

हम लोग जन्मभूमि छोड़ कर अल्पकाल के लिए भी देशान्तर घूमने नहीं जाते। अनेक ऐसे कारण हैं जिससे हम लोगों को विदेश जाने का सुयोग नहीं मिलता। किन्तु जिन लोगों को सब प्रकार का सुभीता है वे अशिक्षित होने के कारण विदेश जाना नहीं चाहते। ऐसे लोगों की संख्या बहुत कम है जो अपने देश से देशान्तर गमन कर भिन्न भिन्न

स्थानों की रीति-नीति से परिचित हों और अन्यान्य देशवासियों का स्वदेशानुराग, स्वजाति-वत्सलता, साहसिकता और सद्गुणावली देख कर कुछ शिक्षा ग्रहण करें। विदेश जाने से स्वदेश पर अनुराग बढ़ता है। देहात के रहनेवाले युवक छात्रगण जब गरमी की छुट्टी के समय कलकत्ते के छात्रालय का परित्याग कर घर जाने लगते हैं उस समय उन लोगों के हृदय में आनन्द की तरङ्गें लहराने लगती हैं। मानो संसार की सारी यातनाओं से छुटकारा पाकर वे स्वर्गीय सुखनगरी को जा रहे हैं। जो लोग सर्वदा एक ही स्थान में रह कर समय विताते हैं उन्हें वह आनन्द नहीं मिलता। प्रदेशवासी युवकों के मन में अन्य काल में जन्म-भूमि की उतनी चिन्ता नहीं रहती, किन्तु विदेश से घर आने के समय अपनी जन्मभूमि का सारा सुख उन्हें स्मरण हो आता है। तब मातृभूमि की सभी वस्तुयें सुन्दर प्रतीत होने लगती हैं। अपने देश से बाहर जाने और विदेश से स्वदेश लौट आने के समय अपने देश का अनुराग लोगों के हृदय में स्पष्टरूप से व्यक्त होता है।

ज्ञान प्राप्त करने की हमारी स्पृहा ज्यों ज्यों क्षीण होती है त्यों त्यों कुसंस्कार और अज्ञानता आदि दोषों की वृद्धि होती है। विद्यालय के विद्यार्थिगण अपने नियमित पाठ के अतिरिक्त विद्यासम्बन्धी कोई दूसरा विषय न

पढ़ेंगे। आफ़िस के कर्मचारी लोग आफ़िस के कामों को समाप्त कर अवशिष्ट समय में कोई दूसरा काम न करेंगे। उसे वे आलस्य में ही बितावेंगे। अथवा खेल-तमाशे में भुगतान करेंगे। किन्तु ऐसा काम न करेंगे, ऐसी पुस्तकें न पढ़ेंगे जिससे उनका विशेष कल्याण हो। जो लोग वाणिज्य-व्यापार करते हैं वे दिन रात अपने आयव्यय, लाभ-हानि की चिन्ता में ही व्यस्त रहते हैं उन्हें आध्यात्मिक बल तथा अपने देश की कल्याण-विषयक बातों के सोचने का अवसर नहीं मिलता। जो लोग विशेष धनवान् हैं वे सर्वदा भोग-विलास में निमग्न रहते हैं और उपाधि पाने के लिए लालायित रहते हैं। उनके सभी काम दूसरे की सहायता पर निर्भर रहते हैं। बिना दूसरे के सहारे उनका एक काम भी नहीं चलता। वे धन से दूसरे का परिश्रम ख़रीद कर अपने को परिश्रमी बनाते हैं। उन्हें अपने नित्य के आवश्यक कामों से जो समय बचेगा उसे वे हास्य-परिहास में ख़र्च करेंगे। वे अपने धन और समय दोनों ही को प्रायः व्यर्थ के कामों में नष्ट कर डालते हैं। धनवानों में सब ऐसे ही हैं यह बात नहीं है। अब भी कितने ही देश के सच्चे हितैषी महानुभाव विद्यमान हैं जो धन और समय को वृथा नष्ट नहीं करते, किन्तु ऐसे उदार पुरुषों की संख्या जब तक अधिक न होगी तब तक भारत का कलङ्क न मिटेगा।

हम लोगों को एक और भारी रोग यह हो गया है कि बिना दूसरे के दोषों का अनुसंधान किये जी को विश्राम नहीं होता। पर यह नहीं जानते कि इससे हम लोगों की कितनी बड़ी हानि होती है। असल में यह रोग ऐसा बुरा है कि हम लोगों को ऊँची शिक्षा ग्रहण करने के अयोग्य बना डालता है। हम लोगों को जहाँ तक हो सके शीघ्र ही इस व्याधि का प्रतीकार करना चाहिए, नहीं तो यह संक्रामक होकर सबको असमर्थ बना डालेगा। हृदय की दुर्बलता जैसे हम लोगों को दूसरे के गुण-दोष की समालोचना में प्रवृत्त कराती है वैसे ही आत्माभिमान भी हम लोगों को दूसरे के दोषादोष की बातों में उलझाता है। क्षुद्र-हृदय मनुष्य अपनी चरित्र-गत क्षुद्रता व्यक्तिमात्र में देखता है और उसकी घोषणा कर के अपनी क्षुद्रता छिपाने की चेष्टा करता है; किन्तु वह मूर्ख यह नहीं समझता कि एक आदमी की हीनता और निन्दा की बात दूसरे के निकट प्रकट करने में क्या लाभ? जब हम लोग एक ही देश के और एक ही जाति के हैं तब अपने देशवासी की या स्वजाति की निन्दा अपनी ही निन्दा हुई। पर छोटे हृदयवाले मनुष्य ऐसा नहीं समझते। वे देश और जाति सबसे अपने को पृथक् मानते हैं और इसी में वह अपना बड़प्पन समझते हैं।

हम लोग पाँच मनुष्य मिल कर साझे का कोई व्यापार नहीं चला सकते। इसका कारण हम लोगों की जातीय

दुर्बलता ही है। सब लोग यदि अपनी ही रुचि और अपनी ही प्रसन्नता के अनुसार काम करना चाहें ता साझे का काम चल नहीं सकता। जब तक ऐकमत्य न होगा तब तक कोई साझे का व्यवहार कर ही नहीं सकता। ईर्ष्या और सन्देह से व्यवसाय में बड़ी बाधा पहुँचती है। यदि परस्पर एक दूसरे का विश्वास न करे ता जाति-सम्बन्धी ऐक्य-भाव समूल नष्ट हो जाय। जिस देश में जातीय सद्भाव का अभाव है वहाँ दीनता का प्रभाव दिन दिन क्यों न बढ़ेगा? जब तक सभी लोग स्वार्थभाव का त्याग न करेंगे तब तक देश की दशा न सुधरेगी। जब तक हम लोग अपने अभिमान को त्याग कर स्वार्थता को जलाञ्जलि दे, स्वजातीय लोगों के साथ प्रेम और विश्वास करना न सीखेंगे तब तक भारत की दीन दशा और हम लोगों की जातीय दुर्बलता दूर न होगी।

जैसे किसी प्रतिष्ठित व्यक्ति को अच्छा काम करते हुए देख कर हर्ष होता है वैसे ही किसी अच्छे व्यक्ति को आलस्य की गोद में निद्रित देख कर मन में घृणा उत्पन्न होती है। यह मनुष्यों का एक स्वाभाविक धर्म है। अच्छा काम कैसा ही छोटा क्यों न हो, उसमें महत्त्व अवश्य रहता है। मान लो कि किसी धनवान् व्यक्ति ने किसी चिकित्सालय की सहायता में एक हज़ार रुपया दिया, इसमें उनका जैसा

कुछ महत्त्व देखा गया, कोई दरिद्र अनाथ बालक सड़क पर पड़ा भूख से व्याकुल हो रो रहा है। उसे उठा कर यदि कोई उसके हाथ में दो पैसे दयापूर्वक रख दे तो इस काम से इस व्यक्ति का बड़प्पन क्या वैसा न समझा जायगा? ईश्वर की सृष्टि में हम लोग और प्राणियों की अपेक्षा श्रेष्ठ गिने जाते हैं। जब इस संसार में छोटे से छोटे कीड़े मकोड़े तक किसी न किसी काम में लगे रहते हैं, तब हम लोगों को क्या निश्चेष्ट होकर रहना उचित है?

मनुष्य जब तक किसी काम में प्रवृत्त नहीं होता तब तक उसके हृदय में पूर्णरूप से विकास नहीं होता। जब परिश्रम की आग हृदय में बलने लगती है तब सारी बुरी प्रवृत्तियाँ लकड़ियों की तरह जल कर राख हो जाती हैं। हम लोग जब आलस्य के अधीन होते हैं तभी हम लोगों की चित्तवृत्ति बुरे कामों की ओर झुकती है और तभी दूसरे की निन्दा, वृथा विवाद और हास्य-परिहास आदि अनुचित काम करने का हमें अवसर प्राप्त होता है। हम लोग यदि आलस्य को दूर कर दें तो सहजही में जीवन की भविष्य उन्नति प्राप्त हो सकती है।

(प्रदीप)

हमारी सब प्रकार की उन्नति के मार्ग में आलस्य ही भारी कण्टक है। हम लोगों की समस्त दुर्बलताओं का कारण

आलस्य ही है। आलसी ही लोग अकसर दूसरों की निन्दा किया करते हैं। जो लोग आलस्यरहित हैं, कर्मवीर हैं, उन्हें ऐसी खोटी बात बोलने का समय कहाँ? जो लोग अकर्मण्य हैं, आलसी हैं, वे दूसरे की निन्दा करने के साथ ही साथ आत्मप्रशंसा करने में भी नहीं चूकते। बड़े खेद का विषय है कि हम लोग आत्मश्लाघारूप कठिन अपराध के अपराधी हैं। पर-निन्दा की अपेक्षा भी आत्मप्रशंसा करना बड़ा ही घृणा का विषय है इसका सर्वदा स्मरण रखना चाहिए, किन्तु हम लोग इसे एक प्रकार भूल ही जाते हैं।

असमर्थता दिखलाना

नित्य की कितनी ही व्यावहारिक बातों से जातीय बलाबल का कुछ कुछ ज्ञान हो जाता है। जिस देश में शक्ति, सामर्थ्य, कार्यदक्षता, निरालस्य, दृढ़ प्रतिज्ञा, आशा, उत्साह और जातिप्रियता है वहाँ के निवासियों के मुँह से प्रायः उन्हीं के सम्बन्ध की बातें निकलती हैं। किन्तु हम लोगों के देश में क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या युवा क्या वृद्ध सभी की बात चीत में आलस्य, असमर्थता, अकारण अप्रसन्नता, निरुद्योगिता और नैराश्य का भाव कुछ न कुछ प्रकट होही जाता है। परस्पर सहानुभूति न रहने ही के कारण लोग

अकसर कहा करते हैं—"गये तो गये, जाने दे।, इसमें हमारा या तुम्हारा क्या बिगड़ता है।" ऐसे ही कोई कोई कहते हैं "मर जाना ही अच्छा है," "जी कर क्या करूँगा" "मुझे इस संसार में रहना ही कै दिन है।" "सब छोड़ छाड़ कर संन्यासी हो जाना ही अच्छा है" इत्यादि। हम लोगों के समाज में नैराश्य, निरुद्यमता और असन्तोष आदि अवगुण दिन दिन बढ़ता ही जाता है। "मैं अक्षम हूँ, मुझ से अब कोई काम नहीं हो सकता।" इस तरह की बात उन्हीं के मुँह से सुनना कुछ अच्छा लगता है जिनके बाल सफ़ेद हो गये हैं; शरीर का चमड़ा सिकुड़ गया है; आँखों की ज्योति मन्द हो गई है; दाँत बिलकुल टूट गये हैं और कानों से कम सुनाई देता है। ऐसे जीर्ण शीर्ण वृद्ध यदि अपनी असमर्थता दिखलावें तो वह किसी को अप्रिय नहीं जान पड़ती; किन्तु यही बात यदि किसी बुद्धिमान् युवक के मुँह से निकले तो वह किसे सह्य होगी। विशेषतः यह बात उन लोगों के मुँह से, जो अभी विद्याध्ययन कर रहे हैं, जिन्हें अपना चरित्र संगठित करने का यही मुख्य समय है, जिनको और दूसरा कोई काम नहीं, सुन कर लज्जा को भी लज्जा हो आती है। किन्तु हमारे देश के छात्रगण यह न समझ कर ऐसे अमूल्य समय को हँसी खेल में गवाँ देते हैं। साधारण कामों में भी कितने ही यह कह कर कि "मुझ से नहीं हो सकता," अपने को

आलस्य की गोद में छिपाते हैं। कितने ही लोग अपनी इच्छा पूरी न होने, अथवा किसी काम में सफलता प्राप्त न करने के कारण निरुत्साह होकर उद्यम करना छोड़ देते हैं। जब आलस्य उन्हें आ घेरता है तब दैव के भरोसे हाथ पर हाथ धर कर बैठ रहते हैं और कहा करते हैं—"जो दैव करेगा, होगा।" इस कातरोक्ति से उनका कोई काम सिद्ध नहीं हो सकता; बल्कि उनकी इस कापुरुषोक्ति का अनुकरण और लोग भी करने लगते हैं। किसी विद्वान् ने कहा है—"भाग अभाग मनुष्य के दोनों अपने हाथ।" इसका अभिप्राय यही है कि जैसा उद्योग करोगे सिद्धि भी वैसी ही होगी। हम लोग किञ्चित् परिश्रम करके फल अधिक प्राप्त करना चाहते हैं। पर ऐसा होना कब संभव है। अन्त में यथेष्ट फल न पाकर हम लोग खेद प्रकाश करने लगते हैं और क्षुब्ध होते हैं। यह नहीं सोचते कि हमने परिश्रम ही क्या किया था। इस कर्म-क्षेत्र संसार में यदि हम लोग महात्माओं के बताये मार्ग पर चलें, प्राणपण से अपने कर्तव्य का पालन करें और आशा कम रक्खें तो अवश्यही आशातीत फल प्राप्त होगा। अतएव तुम लोग यह बात कभी मुँह से न निकालो कि—"हम से यह नहीं हो सकता, हम असमर्थ हैं।"

सातवाँ परिच्छेद ।

"न हो सकेगा ।"

"न हो सकेगा" यह काम भाई,
कभी न बोलो अति हीनताई ।
न क्यों सकोगे कर सो विचारो,
अधीरता को मन से निकारो ॥१॥

नहीं बनोगे यदि कर्मवीर,
सभी कहेंगे तुमको अधीर ।
असाहसी को हँसते सभी हैं,
न प्रेम जी से करते कभी हैं ॥२॥

हम अध्यवसाय, दृढ़ प्रतिज्ञा और आत्मवशता के अभाव से कितनी ही वार कर्तव्य-पालन में असमर्थ होकर कर्तव्य-भ्रष्टता के दोष से दोषी होते हैं, कर्तव्य-मार्ग में जहाँ कोई साधारण भी विघ्न आ पड़ा तहाँ हम लोग आगे न बढ़ पीछे हट आते हैं । यहाँ तक कि कर्तव्यपालन का संकल्प भी भूल जाते हैं । और अपने साहस बल को एक दम खो बैठते हैं । भारतवासियों का शारीरिक बल और मानसिक शक्ति उन्नतिशील अँगरेज़ जाति की अपेक्षा न्यून नहीं है किन्तु हम लोग उसे उचितरूप से व्यवहार में लाना नहीं जानते । हम लोगों का उत्साह कुछ ही देर के लिए विकासोन्मुख होकर कुम्हला जाता है । कोई अपनी शक्ति का बाल्यकाल में, कोई

युवावस्था में और कोई वृद्धावस्था में विकास दिखलाता है। पुरुष-परम्परा से, समभाव से, या कुछ बढ़े उत्साह से, अपने जीवन-पर्य्यन्त उत्साह-पूर्वक कोई काम कर दिखलाना तो हम लोगों के लिए कल्पना से बाहर की बात हो रही है। कैसा हीं कोई विषय क्यों न हो, अधिक देर तक उस पर हम लोगों का चित्त स्थिर नहीं रहता। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण सभा, समाज, सम्प्रदाय आदि हैं। हम लोग जब किसी अच्छे काम में हाथ डालते हैं तब पहले तो असाधारण परिश्रम, पूर्ण उत्साह और बड़ी स्पृहा के साथ काम करते हैं। किन्तु, खेद के साथ कहना पड़ता है कि थोड़े दिनों के बाद हमारा सारा उत्साह और परिश्रम शिथिल हो जाता है। अन्त में जिस उद्देश से वह काम ठाना था उसे भूल कर "यह काम हमारे किये न होगा, हम इसे पूरा न कर सकेंगे" कह कर हम दूसरे काम की ओर झुक पड़ते हैं। विद्युत् की तरह क्षणस्थायी उद्यमशीलता या उत्साह, एक काम पूरा होते न होते दूसरा काम ठान देना, एक साधारण काम में प्रवृत्त होकर छोटे बालक की तरह "हम नहीं कर सकेंगे" कह कर परिश्रम और प्रतिज्ञा से हट जाना, क्या हमारी जातीय दुर्बलतायें नहीं हैं? किसी काम में जहाँ एक वार निष्फलता हुई तहाँ हम लोग फिर उस पर दृष्टपात भी नहीं करते। दो बार की चेष्टा से जिस काम को पूरा नहीं

कर सकते, तीसरी बार उसे पूरा करने का प्रयास नहीं करते। "जो दस बार की चेष्टा करने पर भी सिद्ध न होगा उसके लिए सौ बार चेष्टा करेंगे। जो सौ बार की चेष्टा से सम्पन्न न होगा उसके लिए हज़ार बार कोशिश करेंगे, इस काम को हमीं पूरा करेंगे, हम इसे बिना पूरा किये न छोड़ेंगे, हम अवश्य ही इसे सिद्ध करेंगे।" हम लोगों में इस तरह की दृढ़ प्रतिज्ञा करनेवाले बहुत ही कम लोग मिलेंगे। इस भारत के सुसन्तान स्त्री-पुरुष न जाने कब दृढ़प्रतिज्ञ होंगे और कब आपसे अपनी रक्षा करने की शिक्षा लाभ करेंगे ?

उत्साह

"दृढ़ प्रतिज्ञा, अध्यवसाय, आत्मवश्यता, और उद्योगपरता से मनुष्य क्या नहीं कर सकता ? जब तुम बराबर परिश्रम करते रहोगे तब जो काम तुम्हें आज असाध्य जान पड़ता है वह कल सुसाध्य जान पड़ेगा।"

मुग्धबोध व्याकरण के रचयिता प्रसिद्ध वैयाकरण बोपदेव* बचपन में बड़े ही मन्दबुद्धि थे। उन्हें अपना पाठ

---

* यह आख्यायिका सन् १८८१ ई० वामाबोधिनी पत्रिका में प्रकाशित "बोपदेवेर जीवनी" शीर्षक लेख के आधार पर लिखी गई है और वामाबोधिनी के सम्पादक महाशय की आज्ञा से इसमें प्रकाशित हुई है।

बारंबार अभ्यास करने पर भी याद न होता था। किन्तु विनीतस्वभाव होने के कारण वे गुरुदेव के विशेष कृपापात्र हो रहे थे। बोपदेव ने बड़े परिश्रम और बड़े यत्न से बहुत दिनों तक व्याकरण के ग्रन्थ पढ़े पर उन्हें कुछ बोध न हुआ। उनके सहपाठी एक एक कर सभी शब्द-शास्त्र में विद्वान् हो गये किन्तु वे कुछ भी शिक्षा-लाभ न कर सके। इससे उनके अध्यापक और वे (बोपदेव) दोनों ही क्षुब्ध हुए। एक दिन अध्यापक ने पढ़ाते वक्त, मीठी बातों में बोपदेव का कुछ तिरस्कार किया, इससे बोपदेव के मन में लज्जा के साथ ही साथ बड़ी ग्लानि हुई। वे मन ही मन सोचने लगे—"इतना परिश्रम, इतनी चेष्टा, से इतने दिनों तक पढ़ा, पर कुछ भी समझ में न आया। यदि इतने दिनों में कुछ बोध न हुआ तो अब क्या होगा।" यों सोच विचार कर वे चुप चाप पाठशाला से चल दिये और उदासीन की तरह इधर उधर घूमने लगे। गुरु अपने प्रिय विद्यार्थी के वियोग से बड़े दुःखी हुए और यह भी समझ गये कि पाठशाला-परित्याग करने का करण उनका तिरस्कार ही हुआ।

किसी समय बोपदेव चलते चलते थक कर सरोवर के सामने पेड़ के नीचे बैठ गये। कुछ देर के बाद उन्होंने देखा कि एक युवती मिट्टी के घड़े में पानी भर कर उसे पत्थर की सीढ़ी पर रख कर सरोवर में स्नान करने लगी। स्नान

कर चुकने पर वह उस घड़े को बग़ल में लेकर, अपने घर को चली। जहाँ वह घड़ा रक्खा था वहाँ रोज़ रोज़ घड़ा रखने के कारण घिस कर कुछ गड्ढा सा हो गया था। यह देख कर वोपदेव के मन में न मालूम क्या एक नवीन भाव का उदय हुआ। वे बड़ी देर तक मन ही मन कुछ सोचते रहे, अन्त में उठ खड़े हुए और प्रसन्न-मन से गुरु के घर लौट आये। अध्यापक अपने प्रिय शिष्य को देख अत्यन्त प्रसन्न हुए और उन्होंने बड़े स्नेह के साथ उनका स्वागत किया। जब वोपदेव स्वस्त हुए तब अध्यापक ने हर्ष से गद्गद् हो कर वोपदेव से इस प्रकार मानसिक परिवर्तन का कारण पूछा। वोपदेव ने सारी घटना आदि से अन्त तक कह सुनाई। और कहा—"गुरुजी! चिरकाल तक घर्षण का फल प्रत्यक्ष देख कर इस समय मुझे अच्छा उपदेश मिल गया। मिट्टी की रगड़ खाते खाते जब कठिन पत्थर का उस प्रकार घिसना मैंने अपनी आँखों देखा तब सोचा कि बार बार चेष्टा करने और लगातार परिश्रम करने से मेरी बुद्धि और स्मरणशक्ति तीक्ष्ण और परिष्कृत क्यों न होगी?"

उस दिन से वोपदेव ख़ूब जी लगा कर असाधारण अध्यवसाय और परिश्रम के साथ व्याकरण पढ़ने लगे। पहले का मन्द संस्कार उनका नष्ट हो गया। अब उन्हें प्रत्येक सूत्र का भाव भली भाँति समझ में आने लगा। थोड़े ही

दिनों में वोपदेव ने व्याकरण-शास्त्र में असाधारण योग्यता प्राप्त कर ली। वोपदेव ने पाणिनि का व्याकरण बहुत बड़ा और दुरवगम्य देख कर सुगम मुग्धवोध व्याकरण बनाया। वोपदेव यह ग्रन्थ बना कर अपना नाम अमर कर गये। यदि वे सूत्रों का विवरण स्वयम् न लिख जाते तो उनका तात्पर्य कितने ही विद्वानों की समझ में प्रायः न आता। मुग्धवोध व्याकरण सुगम होने के कारण सबको पसन्द आया और इसी से इसका इतना अधिक प्रचार हुआ। जिस व्याकरण की टीका लिख कर रामतर्कवागीश प्रभृति विद्वानों ने असाधारण पाण्डित्य की प्रतिष्ठा पाई, वह मुग्धवोध वोपदेव ने मन्द-बुद्धि बालकों के लिए लिखा था। "अब मुझे कुछ न आवेगा।" यह कह कर जो पाठशाला छोड़ कर चले गये थे, जो अपनी मन्दबुद्धि के कारण गुरु से तिरस्कृत हुए थे, उन्हीं ने फिर परिश्रम करके कैसी अच्छी योग्यता प्राप्त की इसे एक बार विचार कर देखो। अध्यवसाय का क्या ही अद्भुत प्रभाव है! बार बार अनुशीलन करने का चमत्कार क्या ही विलक्षण है!! आत्मवशता और दृढ़ प्रतिज्ञा की क्या ही असाधारण शक्ति है!!!

मार्किन युक्त राज्य के प्रेसीडेंट गारफ़ील्ड बड़े ही स्वतन्त्र चित्त के मनुष्य थे। "हम से यह काम न हो सकेगा" यह वाक्य उनके मुँह से कभी किसी ने नहीं सुना।

एक बार उनके ऊपर एक अत्यन्त कठिन काम का भार आ पड़ा, तब उनकी माँ ने उनसे कहा—"जेम्स, जो कोई काम करना हो पहले यह सोच लेना चाहिए कि यह हमसे होगा या नहीं। 'हाँ, या ना', कुछ स्थिर हो जाने पर जान लो कि आधा काम सम्पन्न हुआ। मेरे पिता हम लोगों को अकसर यह कह कर उपदेश दिया करते थे कि "मन माने तो ढूँढ़ो उपाय।"

जेम्स अपनी माँ के इस उपदेश और उत्साहवाक्य को अपने जीवन में कभी न भूले। वे माता के बड़े ही भक्त थे। मातृभक्ति ने ही उन्हें संसार में इतने उन्नत पद पर पहुँचाया था। उनको अपनी उन्नति का मार्ग सुगम करने के लिए कोई सामग्री न थी। उनका बाल्यकाल बड़े ही कष्ट से कटा था, किन्तु वे अपने उद्योग और बुद्धि से दरिद्र सन्तान होकर भी सबसे उच्च पद का अधिकार हस्तगत कर सके। वे आत्मपौरुष के गुण से कठिन से भी कठिन काम सम्पन्न करने में समर्थ हुए थे। उनके विशुद्ध चरित्र ने और उनकी मातृभक्ति ने उनके सभी अभावों को दूर कर उनके हृदय में असाधारण शक्ति का संचार कर दिया था।

"जो किसी अच्छे काम में आप प्रवृत्त होता है उसकी सहायता ईश्वर करते हैं।" यह उपदेश माँ के मुँह से बचपन में मातृभक्त गारफ़ील्ड को बराबर सुनने में आता था। बुद्धिमती माँ का उपदेश गारफ़ील्ड कभी न भूले।

विनयकुमार की प्रतियोगिता

अङ्गरेज़ी के किसी विद्वान् की उक्ति है कि—"लक्ष्य से कुछ ऊपर दृष्टि स्थापित करो नहीं तो लक्ष्यभ्रष्ट होगे।" इस उक्ति को अच्छी तरह समझ कर काम करने से प्रायः विफलता न होगी। तुम किसी अवस्था में क्यों न रहो, इस अमूल्य उपदेश वाक्य का स्मरण करके काम करोगे तो अपने अभीष्ट को ज़रूर पूरा कर सकोगे। शिक्षा, शिल्प, वाणिज्य आदि उच्चविभाग की तो कोई बात ही नहीं साधारण बातों ही में इसकी सत्यता का प्रमाण मिल जाता है। समतल भूमि से ज़रा ऊँचे खड़े होकर देखने में और लोगों की अपेक्षा अवश्य ही कुछ अधिक सूझता है।

खेल की जगह में यदि तुम अन्यान्य बालकों से अच्छा खेल करना जानते हो तो तुम्हारा स्थान सबकी अपेक्षा ऊपर होगा। पीछे तुम कदाचित् उन लड़कों के साथ न खेलो, इस समय से वे तुम्हें कभी अप्रसन्न न होने देंगे। तुम्हारे अनेक उपद्रव को वे ख़ुशी से सह लेंगे और तुमको आदर्श मान कर तुम्हारे ही सदृश नाम पाने का अभिलाष करेंगे। जब तुम्हारे साथी तुम्हारे बराबर मान पैदा करना चाहते हैं तब तुम्हें अपना लक्ष्य कुछ और ऊँचा बनाना चाहिए। ऐसी अवस्था में वे तुम्हारे साथी तुम्हारी बराबरी

न कर सकोगे। तुम उन लोगों में प्रधान के प्रधान बने ही रहोगे और वे बालक तुम्हारा उसी तरह आदर-सत्कार करेंगे।

कलकत्ते के किसी कालेज में नरेन्द्र और रमेशचन्द्र ये दो विद्यार्थी एक ही कक्षा में पढ़ते थे। दोनों विद्यार्थी प्रति वर्ष परीक्षा में प्रथम और द्वितीय होते थे। सहपाठियों में उन दोनों की बराबरी कोई नहीं कर सकता था। वे दोनों छात्र अपने निर्मल चरित्र और मेधाशक्ति के द्वारा अध्यापकगणों के अत्यन्त प्रिय हो रहे थे। उन दोनों से कुछ भूल भी हो जाती थी तो उसे अध्यापकगण क्षमा कर देते थे। जिस कक्षा में नरेन्द्र और रमेश पढ़ते थे उसमें सात आठ विद्यार्थी और भी निम्न श्रेणी से तरक्की पाकर उनके साथ पढ़ रहे थे। वे सब विद्यार्थी भी बुद्धिमान् और परिश्रमी थे; किन्तु नरेन्द्र और रमेश के बराबर न होने के कारण उनके मन में ईर्ष्या उत्पन्न हुई। ईर्ष्या उत्पन्न हुई इतनी ही, अपनी त्रुटि पूर्ति करने अथवा परीक्षा में उन दोनों से बढ़ जाने की चेष्टा उन लोगों ने न की। केवल यही सोचने लगे कि—"हम लोग इतना परिश्रम करते हैं, जी लगा कर अपना पाठ अभ्यास करते हैं, परीक्षा के समय सभी प्रश्नों के ठीक ठीक उत्तर लिख आते हैं, तब न मालूम नरेन्द्र और रमेश सर्वप्रधान कैसे हो जाते हैं। इन दोनों पर अध्या-

पकों की विशेष कृपा है इसी से परीक्षा में ये दोनों प्रधानता प्राप्त करते हैं। नहीं तो जवाब क्या हम लोग उनसे बुरा देते हैं ?" इस प्रकार के ईर्ष्यायुक्त सोच-विचार और तर्क-वितर्क से उन लोगों के पढ़ने में किसी किसी समय व्यर्थ का विघ्न आ खड़ा होता था। उन बालकों में विनयकुमार नाम का एक विद्यार्थी बड़ा ही बुद्धिमान् था। उसने एक दिन अपने मन में सोचा—"नरेन्द्र और रमेश प्रतिवर्ष परीक्षा में प्रथम और द्वितीय होते हैं इसका कारण क्या ? उन दोनों को अध्यापकगण इतना क्यों मानते हैं ? इसका कोई अवश्य विशेष कारण होगा। पहले उस कारण को जानना चाहिए।" यह सोच कर विनय प्रति दिन रमेश और नरेन्द्र के हरेक काम बात चीत और चाल चलन को ध्यान-पूर्वक देखने लगा। उन दोनों के साथ उसने बड़ी घनिष्ठता की और किस समय वे दोनों कौन काम करते थे, कितनी देर पढ़ते थे, कितनी देर हँसी खेल में बिताते थे और छुट्टी के समय को किस तरह बिताते थे, इन सब बातों का पता उसने लगा लिया। जब उन दोनों के आह्निक कृत्य से विनय भली भाँति परिचित हो गया तब एक दिन अपनी कोठरी में बैठ कर एकाग्र मन से विचारने लगा—"जिस तरह मैं पढ़ रहा हूँ इस तरह पढ़ने से उन्नति की कोई आशा नहीं है। रमेश और नरेन्द्र का जो कुछ व्यवहार देखा है वही

उन्नति का वास्तविक मार्ग है । वे दोनों अपने समय को क्षण भर भी वृथा नहीं जाने देते । काम के समय अपना कर्तव्य भूल कर कभी किसी के साथ बात चीत तक नहीं करते । हम लोगों में उन दोनों के समान विनयी, मधुरभाषी और सहिष्णु एक भी देखने में नहीं आता । ये दोनों जो प्रतिवर्ष परीक्षा में सर्वप्रधान होते हैं और अध्यापकों के स्नेहभाजन बने हैं यह आश्चर्य्य की कोई बात नहीं । अस्तु । जब कारण ज्ञात हो गया है तब मुझे निराश होना न चाहिए । आडम साहब के इस अमूल्य वाक्य को ही मैं मूल मन्त्र बनाऊँगा—"लक्ष्य की जगह से कुछ ऊपर निशाना करो, नहीं तो लक्ष्य भेद न कर सकोगे ।" आवेग में आ कर विनय ने इस वाक्य को उच्चस्वर से बोल कर सिर ऊपर उठाया और उसी घड़ी प्रण किया कि मैं नरेन्द्रनाथ और रमेशचन्द्र की अपेक्षा सभी बातों में अपनी विशेषता दिखलाऊँगा ।" वह अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार उन दोनों की अपेक्षा अधिक शिष्ट, अधिक विनयी, अधिक परिश्रमी, कर्तव्यपरायण और सहिष्णु होकर और लक्ष्य से ऊपर दृष्टि स्थिर रख कर धीरे धीरे अग्रसर होने लगा । विनयकुमार, जो इस प्रकार अपनी उन्नति के मार्ग में अग्रसर हो रहा था और एक उच्चआदर्श के अनुसार अपना चरित्र संगठित करने के हेतु कटिबद्ध हुआ था, वह किसी को कुछ मालूम

न हुआ। परीक्षा के समय सभी विद्यार्थियों ने परीक्षा दी। उनमें कितने ही योग्य विद्यार्थी ऐसे थे जो उसी वर्ष दूसरे कालेज से आकर इस विद्यालय में नियुक्त हुए थे। इस कारण नरेन्द्र और रमेश के विपक्षी छात्रगण मन ही मन सोच रहे थे कि इस बार दोनों का गर्व निश्चय चूर्ण होगा। हरिनाथ सभी को जीतेगा। परीक्षा का फल कुछ दिन बाद प्रकाशित हुआ। सब लोग विनय कुमार का मुँह अचम्भे के साथ देखने लगे। परीक्षा में विनयकुमार प्रथम हुआ। सहपाठियों को इस प्रकार विस्फारित नेत्र से अपनी ओर देखते हुए देख कर विनयकुमार ने कहा—"मित्र गण, "लक्ष्य स्थान से कुछ ऊपर निशाना ठीक करो, अवश्य ही लक्ष्य भेद करोगे।"

हम लोगों की जातीय दुर्बलता का लक्षण एक यह भी है कि हम लोग दूसरे को उन्नत दशा में देख कर केवल ईर्ष्या से जलते हैं किन्तु अपने दोषों की ओर दृष्टि देकर उन्हें दूर करने का यत्न नहीं करते। अपने को उन्नत दशा में लाने की चेष्टा नहीं करते। मैं प्रतियोगी के निकट जिस गुण में न्यून हूँ उस गुण को प्रतियोगी की अपेक्षा जबतक अधिक प्राप्त नहीं करूँगा तब तक प्रतियोगी पर विजय प्राप्त नहीं कर सकूँगा। उन्नतिशील प्रतियोगी के चरित्र-गत दोष या अपवाद की घोषणा कर मैं उसे कभी नहीं

दबा सकता।" इस विषय में हम लोग अल्पवयस्क विनय कुमार की कार्य्यकारिता से यथेष्ट शिक्षा लाभ कर सकते हैं।

कर्म करने ही में बड़प्पन है।

"कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः०"

यजुर्वेद अध्याय ४०

उद्योगिनं पुरुषसिंहमुपैति लक्ष्मी-
दैवेन देयमिति कापुरुषा वदन्ति।
दैवं निहत्य कुरु पौरुषमात्मशक्त्या
यत्ने कृते यदि न सिध्यति कोऽत्र दोषः॥

हितोपदेश

जो लोग जितने ही अधिक कर्तव्यपरायण हैं वे उतने ही अधिक आदरणीय समझे जाते हैं; अतएव अपने कामों को भली भाँति सम्पन्न करके सुख सम्मान के भाजन बनो अथवा आलसी बन कर अपमान का दुःख भोगो; पर इतना याद रक्खो कि आलसी मनुष्यों की चित्तवृत्ति सर्वदा पापपथ की ही ओर धावित होती है। आलसी मनुष्यों का दिमाग़ बुरी बुरी भावनाओं से भर जाता है, इससे वे सभ्य समाज में सर्वत्र घृणास्पद समझे जाते हैं। शास्त्रों में कर्म की महिमा

अच्छी तरह गाई गई है। तुम लोग जितना ही अधिक दर्शन, विज्ञान-शास्त्र पढ़ोगे उतना ही अधिक जानोगे कि यह संसार कर्म-मूल है। सांसारिक जितने जीव हैं सब कर्मरत हैं। क्या जड़ क्या चेतन सभी कर्मपाश में फँसे हैं। इस संसार में आलस्य के लिए कोई जगह नहीं है, तब आलस्य कह कर जो कोई एक बात कही जाती है उसका अभिप्राय भिन्न है। सब लोग कर्म की अभावावस्था ही को आलस्य कहते हैं। पर असल में यह बात नहीं है। जिसको जितनी शक्ति है वह उतना ही काम करेगा। वह उतना ही अपने कर्तव्य का पालन करेगा। किन्तु जो लोग शक्ति, समय और इच्छा रहते भी यथोचित काम न करके कर्तव्य से जी चुराते हैं हम लोग उन्हीं को आलसी कहते हैं। किन्तु जो लोग अपने कर्तव्य को यथाशक्ति सम्पन्न करते हैं उन्हें आलसी नहीं कह सकते। दूसरी बात यह कि जब कर्म किये बिना कोई रह नहीं सकता तब यह सम्भव है, कि जो सुकर्म नहीं करते वे प्रायः कुकर्म करते हैं और जो कर्तव्य से हटते हैं वे अकर्तव्य को आश्रय देते हैं। हम लोग जब कर्तव्यनिष्ठ व्यक्ति को आलसी नहीं कह सकते तब जो अकर्मण्य हैं अर्थात् कर्तव्य की अवहेला करने वाले हैं वे ही आलसी कहला सकते हैं। आलसी लोगों का मस्तिष्क सर्वदा पापों से ही भरा रहता है। अङ्गरेज़ी में नीति का एक वाक्य है जिसका भावार्थ यह है कि, "जिन्हें अपना

कर्तव्य कर्म नहीं सूझता पिशाच उन्हें कर्म ढूँढ़ देता है ।" जो लोग विश्राम-प्रिय हैं, जो बात बात में कहा करते हैं कि "क्या हम जीवन भर कमाते ही कमाते मरेंगे? इस ज़िन्दगी में कुछ आराम भी तो कर लेना चाहिए ।" और जो यह सोचते हैं कि "इतने कर्मचारियों के रहते मैं ख़ुद क्यों काम करूँगा ।" और जिन लोगों की यह धारणा है कि "दरिद्र नरनारीगण और श्रमजीवी व्यक्तियों ही को काम करना उचित है। धनवान् व्यक्ति काम करेंगे तो लोगों में उनका उपहास होगा।" इन लोगों को इस बात पर पूर्णरूप से विश्वास करना चाहिए कि जो लोग काम करते हैं वही विश्राम का सुख पाते हैं और अकर्मण्य आलसी लोग दिन रात अप्रसन्न और अस्वस्थ रहा करते हैं। कोई काम न करके आलस्य में दिन बिता कर हमें क्या आराम मिल सकता है? हम लोगों को अपना कर्तव्य कर्म सम्पन्न करके ही विश्राम मानना चाहिए। जो लोग उद्यमी हैं वे अकसर कहा करते हैं—"जब तक यह काम पूरा न होगा तब तक हमें चैन कहाँ?" उद्यमी लोग जब काम पूरा कर चुकते हैं तभी उन्हें चैन मिलता है। हम लोग यदि उद्यमशील हैं तो विश्राम सुख पाने की इच्छा से ही काम करेंगे और काम करके विश्राम लेंगे। काम करने से केवल शरीर को ही सुख नहीं मिलता, मन में भी यथेष्ट शान्ति-सुख मिलता है। सब लोगों को अपनी शक्ति

और अवस्था के अनुसार कर्तव्य की सीमा निर्दिष्ट है। अपनी शक्ति से बढ़ कर कोई कुछ नहीं कर सकता। राजा, प्रजा, गृहस्थ, संन्यासी, अध्यापक, विद्यार्थी, माँ, बाप, सन्तान, मालिक, नौकर आदि जितने व्यक्ति हैं अधिकार-भेद से सब का कर्तव्य अलग अलग निर्दिष्ट है। उन्नति की इच्छा और उद्यमशीलता जितनी ही बढ़ती है उतनीही जाति-कुल के अनुसार कर्तव्य की सीमा विस्तृत होती है और मनुष्य-जीवन का महत्त्व बढ़ता है। जो लोग काम को कष्ट कर समझते हैं उन्हें यह नहीं सूझता कि इस संसार में मनुष्यों के सुख-सम्पत्ति का एकमात्र कारण कर्म ही है। शरीर और मन की स्वस्थावस्था में कर्म करना नितान्त आवश्यक और प्रयोजनीय है। बुरी भावना और बुरे कामों से उद्धार पाने का प्रधान उपाय यही है कि सर्वदा अच्छे कामों में लगे रहना और अच्छी बातें सोचना। अपने शरीर और मन को ऐसा अवसर न देना चाहिए जिसमें वह बुरे काम करने और बुरी बात सोचने का सुयोग प्राप्त कर सके। किसी पदार्थ के रक्खे रक्खे नष्ट होने की अपेक्षा किसी काम में लग कर नष्ट होना अच्छा है। इसे कौन पसन्द न करेगा? आलस्य में पड़े रह कर हम लोग निकम्मे हो जाते हैं, इससे किसी काम में शरीर और मन को उलझा कर जीवन व्यतीत करना कहीं बढ़ कर अच्छा है। महात्मा कृष्णदासपाल परिमाण से अधिक श्रम

करके असमय में ही कालग्रस्त हुए, यह बात तुम लोगों में कितनों ही ने सुनी होगी । इस तरह अपरिमित काम करके अपना बहुमूल्य जीवन गवाँना ठीक नहीं । ऐसा करना न ईश्वर की आज्ञा है और न मनुष्य ही ऐसा करना पसन्द करते हैं, किन्तु महात्माओं का चरित्र उपदेश से ख़ाली नहीं होता । उक्त महात्मा इस प्रकार शरीर त्याग न करके आलस्य की गोद में अपने को स्थापित कर अब तक जीते रहते तो उन्हें कौन पहचानता ? उनके पवित्र नाम को प्रातः-स्मरणीय करके कौन मानता और उनकी मृत्यु पर खेद ही कौन प्रकाशित करता ? किन्तु कृष्णदासपाल की मृत्यु से कौन नहीं रोया ? उनके न रहने का दुःख किसके मन में न हुआ ? अब भी उनके लिए लोग व्याकुल हो उठते हैं । कृष्णदासपाल ने सत्कर्म्म के द्वारा ही इतनी बड़ी प्रतिष्ठा पाई थी । सत्कर्म ही ने उनका नाम प्रातःस्मरणीय कर दिया। इससे अच्छा काम करके अल्पायु होना आलसी मनुष्यों के दीर्घ-जीवन से कहीं बढ़ कर अच्छा है । अकर्मण्य लोगों को बहुत दिन तक जीने ही से क्या ? मार्किन के एक प्रसिद्ध विद्वान् एमर्सन ने कहा है कि प्रकृति की प्रेरणा मनुष्यों के प्रति यही है कि परिश्रम का मूल्य तुम पाओ चाहे न पाओ, पर कर्म बराबर करते जाओ । तुम जो कर्म करोगे उसका पुरस्कार कभी न कभी तुम्हारे हाथ ज़रूर

आयेगा । तुम हलका काम करो या भारी काम करो, खेती करो या महाकाव्य लिखो, कोई काम क्यों न हो, योग्यता के साथ सम्पन्न करो । प्रथम तो उस काम के सम्यक् सम्पन्न होने से तुम्हारा चित्त प्रसन्न होगा, नयनादि इन्द्रियगण तृप्त होंगे । इसी को पुरस्कार समझो । यदि उस काम से तत्काल विशेष लाभ न हो तो इससे अधीर न हो, किसी न किसी दिन तुम्हें अपने कर्म का यथेष्ट फल मिल ही जायगा । "नहि किञ्चित्कृतं कर्म लोके भवति निष्फलम् ।" अर्थात् "किया हुआ कोई काम कभी निष्फल नहीं होता । किसी अच्छे काम को तुम भली भाँति पूरा कर सकोगे तो वही तुम्हारे लिए पुरस्कार होगा ।" उन कामों को भूल कर भी न करो जो नीतिविरुद्ध हों । याद रक्खो, जो काम बुरा है उसका परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता । बबूल के पेड़ में आम कभी नहीं फल सकता । जो लोग बुरा काम करते हैं उन्हें अन्त में परिताप के सिवा कुछ हाथ नहीं आता । अपकर्म करने से शारीरिक और मानसिक अनेक हानियाँ होती हैं और लोगों में निन्दा होती है । अपकर्म्मियों का सभ्य समाज में कहीं आदर नहीं होता और उन्हें सब लोग घृणा की दृष्टि से देखते हैं ।

"एक सज्जन बंगाली इँगलैंड से स्वीज़रलैन्ड देश देखने गये थे वे वहाँ के एक प्रधान शहर के रेलवे स्टेशन पर उतरे

और एक कुली को पुकारा । कुली ने आकर उनकी गठरी कन्धे पर ले ली । बंगाली ने उससे किसी होटल में ले चलने को कहा । वह उनको अपने साथ लेकर चला । उस कुली ने रास्ते में उनसे पूछा—"आप किस देश के रहनेवाले हैं ? आपका स्वरूप देख कर यह नहीं मालूम होता कि आप किस देश के निवासी हैं ।

बाबू—"मैं भारतवर्ष का निवासी हूँ ।"

कुली—"मैं आप से एक और बात पूछना चाहता हूँ । क्या आप कृपा करके मेरे प्रश्न का उत्तर देंगे ?"

बाबू—"तुम्हें जो कुछ पूछना हो पूछ सकते हो । मैं यथासाध्य उत्तर दूँगा ।"

तब कुली उनके साथ वार्तालाप करने लगा । कुली की विज्ञता-भरी बात-चीत सुन कर बाबू ने विस्मित होकर कहा—"तुम पढ़े लिखे लोगों की तरह बात कर रहे हो, फिर कुली का काम क्यों करते हो ? कुली ने कहा—"दूसरे का गलग्रह होने की अपेक्षा कुली का काम करना मैं अच्छा समझता हूँ । आज मैं कुली का काम कर रहा हूँ । कोई दिन ऐसा भी आ सकता है जिस दिन मैं साधारण तन्त्र का सभापति भी हो सकता हूँ ।"

स्वीज़रलैंड का कुली विद्वान् होकर भी गठरी ढो कर जीवन-निर्वाह करता है । दूसरे का गलग्रह होकर कुकुरो-

पादेय पिण्ड से जीवन विताना अच्छा न समझ कर कुली का काम करना अच्छा समझता है। यह क्या बड़प्पन की बात नहीं है? किसानों का काम, बढ़ई का काम, कुम्हार का काम, कुली का काम और इस तरह के जितने काम हैं, निन्द्य नहीं हैं। ये सब काम मनुष्यों के उपयोगी हैं। जो काम शारीरिक परिश्रम से सम्बन्ध रखता हो और लोकोपकारी हो, वह काम बुरा नहीं है। जो काम नीतिविरुद्ध है वही बुरा है। दूसरे का गलग्रह होने की अपेक्षा कुली होना ही अच्छा है। कोई व्यावहारिक काम करके जीवन-निर्वाह करना कलङ्क का विषय नहीं है। कलङ्क और नीचता बुरे कामों के करने में है। काम करने की योग्यता रखने पर दूसरे का आश्रित होना भी नीचता है।

(प्रदीप)

जितनी उन्नतिशील जातियाँ हैं, सबों ने कर्म का माहात्म्य स्वीकार किया है। भारतवर्ष की तरह युरोप में भीख माँगने की प्रथा नहीं है और वहाँ भीख लेना जैसा लज्जा-जनक और हीनता-सूचक है वैसा ही भिक्षा देना भी आलस्य का सहारा देना कह कर अपराध में परिगणित है। इसी से युरोप और अमेरिका में किसी को भिखारी कहना सख़्त गाली में गिना जाता है। अमेरिका के बड़े बड़े कालेजों के कितने ही दरिद्र विद्यार्थी गरमी की छुट्टी के

दिनों में गाड़ी हाँक कर, नाट्यशाला में कोई काम करके, धर्म-मन्दिर में घण्टा बजा कर और भी ऐसे कितने ही काम करके रुपया कमाते हैं और उन रुपयों से कालेज का ख़र्च चलाते हैं। इसमें वे लोग लज्जा नहीं करते। किन्तु दूसरे का गलग्रह होना अथवा दूसरे का उपार्जित धन भिक्षा कर के लेना वे अवश्य लज्जा का विषय समझते हैं। इस आलस्य-प्रधान भारत देश के निवासियों में यह भाव जाग्रत नहीं होता, इसी से दूसरे का गलग्रह होना लोग कलङ्क नहीं समझते और कोई काम करके अपना जीवन-निर्वाह करना महत्त्व की बात है। पर वे इस पर भी ध्यान नहीं देते।

कर्म्म-माहात्म्य

सुनो सकल भारत-सन्तान, करो कर्म जिससे हो मान।
सब सुख का कारण है कर्म, यही मुख्य मानव का धर्म ॥१॥
पराधीन किंवा स्वाधीन, हो धनाढ्य अथवा अतिदीन।
करो सुकर्म धर्म में लीन, होकर नित आलस्यविहीन ॥२॥
जितने हुए वीर वरधीर, ज्ञानी ऋषि मुनि विमल शरीर।
सो जानहु सब कर्म-प्रभाव, कर्महीन को सभी अभाव ॥३॥
पाकर यह दुर्लभ नर-देह, बनो नहीं आलस का गेह।
जब तक रहे देह में प्रान, तब तक करो कर्म सम्मान ॥४॥

सब सुख सिद्धि कर्म वश जान, करो न कभी कर्म अपमान ।
योग यज्ञ अरु जप तप ध्यान, सबका है शुभकर्म निदान ॥५॥
जितने हैं जड़ जीव जहान, भले बुरे गुन अवगुन खान ।
उन सबके प्रति हेतु महान, कर्म शुभाशुभ एक प्रधान ॥६॥
फल सुकर्म का है सुखभोग, पाते हैं सब सज्जन लोग ।
जो कुकर्म में देते योग, वे पाते दुख दारिद रोग ॥७॥
जो चाहो अपना कल्यान, नित सुकर्म पर रक्खो ध्यान ।
सुजन कर्म करके तज शोक, लेते बना लोक परलोक ॥८॥
मृतक आलसी एक समान, कर न सकैं कुछ कर्मविधान ।
इससे नित स्वशक्ति अनुसार, करो कर्म कुछ नीति विचार ॥९॥
भाग्य दोष दे कितने लोग, दुख पाते तज कर उद्योग ।
जो करते उद्यम व्यापार, कभी न वे पाते दुख भार ॥१०॥
उद्यम है सब सुख का मूल, देता मिटा हृदय का शूल ।
इससे उद्यम करो महान, पाओगे दिन दिन सम्मान ॥११॥
करो नित्य दैहिक व्यायाम, होगा तन सुडौल बल धाम ।
करो मानसिक श्रम अभ्यास, दिन दिन होगा बुद्धि विकास॥१२॥
खेती करो बनज व्यापार, जिससे खुले लाभ का द्वार ।
पहले पालो निज-परिवार, पीछे करो देश-उपकार ॥१३॥
देकर तुम दीनों को दान, करो न मन में कुछ अभिमान ।
दुष्ट जनों से करो न प्रीति, गहो सदा सज्जन की रीति ॥१४॥
सबके साथ उचित व्यवहार, करके बनो विनय आगार ।
खुश होकर सारा संसार, तुमको सदा करेगा प्यार ॥१५॥

आठवाँ परिच्छेद

जन्मभूमि

"जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी।"

परस्पर विद्वेष जाति के लिए जैसा कलङ्क है वैसा ही स्वदेशानुराग जाति के लिए गैारव है। स्वजाति-विद्वेष हृदय को नीच से भी नीचतर बना देता है और स्वदेश का प्रेम हृदय को प्रशस्त और उन्नत करता है। मान्यवर महात्मा भूदेव मुखोपाध्याय ने, अपनी पुस्तक में, किसी जगह लिखा है। "जो लोग अपने देश और अपनी जाति में पूर्ण प्रेम रखते हैं, उन्हें मनुष्यों में देवता समझना चाहिए।" भारतदेश में भिन्न भिन्न जाति के लोग हैं, भाषा भिन्न भिन्न है, आचार-व्यवहार भी पृथक् पृथक् हैं और जल वायु भी सर्वत्र एक सा नहीं है। एक ही देश में इतनी जाति-विभिन्नता और व्यवहार-विभेद देख कर विशेष कुतूहल उत्पन्न होता है। अन्य जातियों में इस प्रकार की विभिन्नता रहते भी भारतवासियों की अपेक्षा स्वदेशानुराग अधिक देखने में आता है। स्काटलैण्ड के रहनेवाले कोई अँगरेज़ वेलसनिवासी अँगरेज़ को स्वजाति कह कर पुकारने

में कुण्ठित नहीं होते, किन्तु एक गुजराती एक बङ्गाली को स्वजाति न कहेगा। यद्यपि दोनों हिन्दूधर्म्मावलम्बी हैं और दोनों ही एक ही उपदेश-पथ के पथिक हैं। जब दोनों ही एक धर्म के उपासक हैं, एक देश के निवासी हैं और दोनों ही की मूल भाषा (संस्कृत) एक है, तब केवल प्रादेशिक भाषा के भेद से अथवा पहनावे ओढ़ावे की विभिन्नता से अपने को अलग अलग मानना अनुचित है। जो लोग इस प्रकार की परस्पर भेद-बुद्धि रखते हैं वे जन्मभूमि का अर्थ नहीं समझते। यदि जन्मभूमि का अर्थ ठीक ठीक उन्हें मालूम हो जाय तो ऐसी भेद-बुद्धि न रहने पावे।

ऐसा कभी न समझो कि जिस घर में, जिस गाँव में, अथवा जिस प्रदेश में तुमने जन्म ग्रहण किया है वही स्थान-मात्र तुम्हारी जन्मभूमि है। हम लोगों की जन्मभूमि बहुत बड़ी है। तुम चारों ओर जो कुछ देख रहे हो, चारों ओर से जिनके बीच तुम घिरे हुए हो, धानों से हरे भरे खेत, नाना प्रकार के फलों से भरपूर बाग़, बड़े विस्तृत मैदान, घने जंगल, भाँति भाँति के सरोवर और नदियाँ, बड़े बड़े ऊँचे विन्ध्य-हिमालय आदि पर्वत, राजधानी की अनेकानेक ऊँची अटारियों से लेकर गांव के छोटे छोटे तृणकुटीर तक, अतुल धन सम्पत्ति के अधिकारी राजा महाराजा से लेकर दुर्भिक्षपीड़ित अस्थिचर्मावशेष स्त्री-पुरुष पर्य्यन्त, दो एक

सुखी जनों का आनन्दोत्सव और शत सहस्र दुखियों का एक साथ आर्तनाद करना, थोड़ा बहुत बनज-व्यापार और अधिकतर खेती—ये सब तुम्हारे जन्मभूमि के अन्तर्गत हैं। हम लोगों के माँ, बाप, भाई, बहन, चचा, भतीजा, मामा और भानजे आदि जितने परिवार के लोग हैं और जितने पड़ोसी हैं, उन सब के साथ प्रेम, सद्भाव और मधुर भाषण का अवसर जो हमें प्राप्त होता है वह जन्मभूमि की ही बदौलत। सुख की जितनी सामग्रियाँ हैं हम लोगों को जन्मभूमि के द्वारा प्राप्त हो सकती हैं। अतएव हम लोग जिस पूज्यदृष्टि से अपनी माता को देखते हैं उचित है कि उसी दृष्टि से जन्मभूमि को भी देखें। हम लोग सभी इसी भारत-माता के सन्तान हैं। सन्तानों के द्वारा पूजा पाने का जितना अधिकार माँ को है उतना ही जन्मभूमि को है। आज तक जितने पराक्रमी महाशक्तिशाली सम्राट् हुए हैं, जितने महान् वीर, धीर धार्मिक, पुरुषों ने संसार में जन्म लिया है और जो मनुष्य-समाज में देवता की तरह पूज्यदृष्टि से देखे जा चुके हैं; क्या उनमें तुम ऐसे एक व्यक्ति का भी नाम बतला सकते हो जो मातृ-भक्त न रहे हों? तुम सैकड़ों पुराण के और हज़ारों इतिहास ग्रन्थ के पन्ने उलट कर देखो, मातृभक्ति-विहीन या स्वदेश-विद्वेषी एक व्यक्ति का भी नाम कहीं न पाओगे। जो मातृभक्त नहीं हैं, जिन्हें जन्मभूमि में अनुराग नहीं है, वे

कदापि बड़ाई नहीं पा सकते। वे मान्यमण्डली में कभी परिगणित नहीं हो सकते।

द्वापर में धर्म्मप्रवीर युधिष्ठिर आदि और कलिकाल के ऐतिहासिक महावीर एलैकज़ैन्डर, महाप्राज्ञ पिटर, वाल्स, वाशिंगटन, गारफ़ील्ड और भारतीय वीरवर शिवाजी, महात्मा राममोहनराय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, रामगोपाल घोष, आदि कितने ही जननी और जन्मभूमि की सेवा कर गये हैं। जो संसार में बड़े होते हैं वे माता और मातृभूमि की सेवा से कभी पराङ्मुख नहीं होते। अतएव मनुष्यमात्र का कर्तव्य है कि मातृ-सेवा के साथ ही साथ जहाँ तक हो सके जन्मभूमि का भी उपकार करे।

स्वदेशानुराग

जन्मभूमि ही की दूसरी संज्ञा स्वदेश है। आज कल कितने ही अनभिज्ञ जन स्वदेशानुराग का अर्थ बिगाड़ कर देश के अनेक अनिष्ट साधन में प्रवृत्त हो रहे हैं। विदेशियों को गाली देने अथवा प्रचलित राजशासन के विरुद्ध कोई काम करने, किंवा सामाजिक नियम के विरुद्ध आन्दोलन करने से स्वदेशानुराग प्रकट नहीं होता। जन्मभूमि के जो सच्चे हितैषी हैं वे ऐसा काम कभी नहीं करते। देश के अंश

में जो हितकर कार्य है उसका अनुष्ठान करना और जो हानिकारी है उसके प्रतीकार का नीति-सम्मत यत्न करना स्वदेश प्रेमी पुरुषों का कर्तव्य है, किन्तु देशसुधार का कोई अच्छा प्रयत्न न कर केवल सुधार सुधार चिल्लाने से कोई फल नहीं होता। जो यथार्थ में स्वदेशानुरागी और स्वजाति हितैषी हैं, वे स्वदेश के बाहरी सौन्दर्य बढ़ाने पर वा सुनीति-सम्मत नियमावली पर या कठोर शासन-पद्धति पर लक्ष्य नहीं रखते। वे सामाजिक बाह्य नियमों पर भी मनोयोग न देकर सामाजिक मनुष्यों के हृदय की उन्नति और उनके चरित्र-सुधार की ओर विशेष ध्यान देते हैं। देशवासी लोग जब तक सत्यवादी, शिष्ट और कर्तव्य-परायण न होंगे तब तक हज़ार कठोर नियमों का पालन करके तथा विशेष विद्या, बुद्धि और प्रचुर धन-रत्न प्राप्त करके भी देश को उन्नत दशा में न ला सकेंगे। राजा के कठोर शासन से भी बढ़ कर आत्म-शासन आवश्यक है। जो अपनी ही रक्षा करने में असमर्थ है वह दूसरे की रक्षा कहाँ तक कर सकता है? दूसरे की उन्नति देख कर हृदय में विद्वेष भाव का उदय होना अत्यन्त गर्हित है। जो उच्च हृदय के मनुष्य हैं उनके हृदय में ऐसा विद्वेष उत्पन्न नहीं होता। वे गुण का ग्रहण करते हैं, दोषों का त्याग करते हैं, और जिससे उन्हें कल्याण की आशा होती है उसका आदर करते हैं और जिससे अमङ्गल

होने की संभावना देखते हैं उससे विरत होते हैं। महान् पुरुषों का यही कर्तव्य है। विजातियों की निन्दा करने और उन लोगों के साथ अशिष्ट व्यवहार करने से हृदय इतना संकीर्ण हो जाता है कि मनुष्यत्व और महत्त्व दोनों एक साथ लुप्त हो जाते हैं और उदारता की सब बातें एक एक करके हृदय से बाहर हो जाती हैं।

हृदय का भाव बातों से और कामों से प्रत्यक्ष होता है। अन्य देशवासी काम देख कर ही प्रशंसा वा निन्दा, श्रद्धा अथवा घृणा करते हैं। जो लोग ईर्ष्यावश दूसरी उन्नत जाति के साथ सदय व्यवहार करने से मुँह छिपाते हैं और जिन्हें मारे अभिमान के अपने जाति-गत दोष और अन्य जातियों के गुण नहीं सूझते वे स्वदेशानुरागी नहीं कहला सकते, बल्कि वे भारत-माता के अयोग्य सन्तान और स्वदेश-विद्वेषी कहलाने योग्य हैं।

मनुष्यों का यह एक स्वाभाविक धर्म है कि सभी देश-वासी अपने अपने देश का हित चाहते हैं। क्या धनी, क्या दरिद्र, क्या संसारी, क्या विरक्त, बालक, वृद्ध, युवा, स्त्री सभी अपने अपने देश को प्यार की दृष्टि से देखते हैं। जो जाति पराधीन है उसे भी अपने देश का अनुराग होता है। अनुराग की सार्थकता तभी है जब उचित रीति से अपने देश का उपकार किया जाय। जो लोग अयुक्त रीति से

देश का उपकार करना चाहते हैं वे वास्तव में उपकार न करके देश का अपकार ही करते हैं। यदि सब लोग, नीति-नियमानुसार देश का उपकार करना चाहें तो देश का बहुत कुछ उपकार कर सकते हैं।

जो पड़ोसी अपने पड़ोस वालों का साहाय्य करते हैं; जो माँ-बाप अपनी सन्तति को सच्चरित्र और सुशिक्षित बनाते हैं; जो अध्यापक विद्यार्थियों को अपने पुत्र के समान जान विद्यादान देते हैं और उन्हें स्वदेशानुराग का प्रकृत अर्थ और स्वजाति-प्रीति का महत्त्व बतलाते हैं तथा सुशिक्षा, सुनीति के द्वारा उनके चरित्र सुधारते हैं; जो बालक अपने गुरु-जनों के आज्ञाकारी, सत्यभाषी, और सच्चरित्र हैं और जो लोग जन्मभूमि का अमङ्गल अपना ही अमङ्गल समझते हैं, वेही स्वदेश के सच्चे प्रियपात्र हैं।

आदर्श पुरुष

जिस देश के आदर्श पुरुष जैसे होते हैं, उस देश की उन्नति तदनुरूप ही होती है। महापुरुषों के आदर्श स्वरूप जीवन-चरित्र की देखा देखी जातीय जीवन गठित होता है। आदर्श पुरुष उच्च हृदय के हुए तो जाति उन्नत होती और आदर्श नीच प्रकृति के हुए तो जाति की अवनति होती है।

इसी से भिन्न भिन्न देशवासियों की शिक्षा, सभ्यता, भाव, कल्पना, बुद्धि, मानसिक भावना और संस्कार भिन्न भिन्न प्रकार के हैं। संसार में ऐसा कोई देश नहीं है जो सामाजिक, राजनैतिक, सांसारिक, पारमार्थिक, दैहिक और मानसिक आदि सभी विषयों में सर्वोच्च आदर्श बन सके। कहीं मानसिक, कहीं शारीरिक, कहीं मनो-विज्ञान और कहीं जड़ विज्ञान की विशेष रूप से उन्नति होती है। अतएव देश-काल का विचार न करके, जिस समय जिस देश के जो सर्वोपरि सर्वमान्य आदर्श हों, उनके प्रशस्त गुणों का ग्रहण करना सर्वथा उचित है। ऐसा कोई समाज नहीं है जिसमें कुछ न कुछ दोष न पाया जाय। ऐसी कोई नीति, शिक्षा और संस्कार नहीं जो सर्वथा भ्रान्तिरहित हो; भ्रान्ति तो हमारे पग पग में उपस्थित है।

प्राचीन आर्य-गणों के ज्ञान, प्रेम, विश्वास, गुरुभक्ति, शिष्टता, सरलता, सत्य-परायणता, निःस्वार्थता, स्वधर्मानुराग, स्वजाति-प्रियता, स्वदेशानुराग, राजभक्ति और भगवद्-भक्ति हम लोगों के लिए आदर्श हैं। हम लोग जो इन आदर्शों को सर्वतोभाव से ग्रहण नहीं करते यह हम लोगों की भूल है। यद्यपि भारतवासी वाल्मीकि आदि महर्षिगणों के, श्रीरामचन्द्र, विदेह, युधिष्ठिर आदि महाराजों के, भीष्म प्रभृति वीरगणों के, लक्ष्मण, भीम, अर्जुन आदि भ्रातृगणों

के सच्चरित से शिक्षा ग्रहण कर सकते हैं, तथा भारत की ललनायें श्रीसीता, सावित्री, दमयन्ती आदि पतिव्रताओं के आचरण से पतिभक्ति की शिक्षा पा सकती हैं तथापि ग्लैडष्टोन, बिलवरफोर्स, वासिंगटन, गारफील्ड, म्याजिनी, वेल्स, महाविज्ञ अल्फ्रेड, पिटर, थिउडर पार्कर, और एमर्सन प्रभृति महानुभावों के सद् व्यवहार से भी सभी देशवासी कुछ न कुछ शिक्षा ज़रूर पा सकते हैं। हम लोग जैसे अपनी जन्मभूमि को अनन्तज्ञान का भण्डार मानते हैं, प्राचीन आर्यगणों के पवित्र जीवन पर गर्व करते हैं और अन्य देश-वासियों से उँगली दिखा कर कहते हैं कि "संसार में ऐसे ऐसे अमूल्य पुरुष-रत्न और देशों में कहाँ पाइएगा।" किन्तु अन्यान्य देश जिन स्वदेशीय आदर्श पुरुषों के प्रभाव से अत्यन्त उन्नत अवस्था में प्राप्त हुए हैं और अपने अनेकानेक कला-कौशल की प्रभा से संसार को देदीप्यमान कर रहे हैं वे भी उन आदर्शपुरुषों पर, उनकी गुणावली पर, उनके विज्ञान-शास्त्र द्वारा नये नये आविष्कार पर, भारत की दृष्टि आकर्षण कर स्पर्धापूर्वक कह सकते हैं कि "पाश्चात्य संसार के ये अपूर्व और अलभ्य पारस तुम लोगों के देश में कहाँ हैं? हम लोगों का यह उद्यम, व्यवसाय, ऐक्यभाव, गुणगवेषणा, साहस जाति-प्रियता तुम लोगों में कहाँ है? हम लोगों में जो उन्नति की इच्छा और ऊँचा ख़याल रोम रोम में भरा है,

वृद्धावस्था होने पर भी हम लोगों को जो श्रम-सहिष्णुता, ज्ञान प्राप्त करने की अभिलाषा और एकाग्रता रहती है, वह तुम लोगों के देश में, तुम लोगों के समाज में, तुम लोगों के श्रमभीरु युवा-पुरुषों में कहाँ है ?"

अपने देश के प्राचीन-कालिक गुण-गौरव पर फूल कर निश्चेष्ट भाव से बैठे रहने से कुछ न होगा। जो गुण विदेशियों में उत्तम हैं वे उनसे ग्रहण करो। जो गुण देशोपकारी है, जो असत्य से सम्बन्ध नहीं रखता, उसके ग्रहण करने में कोई लज्जा नहीं। किन्तु ऐसा भी करना उचित नहीं कि जो रत्न तुम्हारे भंडार में मौजूद हैं उन्हें दूर फेंक कर और उन पर घृणा की दृष्टि डाल कर देश-देशान्तर से रत्न ला कर भण्डार भरो। इससे भी तुम कृतकार्य न हो सकोगे। तुम लोगों का जो अपना जातीय गौरव है, जिस गौरव से संसार की सभी जातियों में तुम प्रतिष्ठित गिने जाते हो और जिस अमृतमय विद्वत्ता को देश-देशान्तर के विद्वान् अब भी लालच भरी दृष्टि से देख रहे हैं। पहले इन सब गुणों के अधिकारी हो लो, पहले अपने घर को सँभाल लो, तब देशान्तरीय गुणों का भी संग्रह, जहाँ तक हो सके, ज़रूर करो।

युवक छात्रगण ! तुम लोग वासिंगटन और म्याजिनी का जीवन-चरित्र जी लगा कर पढ़ो। देश, काल और पात्र के

अनुसार गुणियों का आदर करना और उनके गुणों का अनुकरण करना दोष नहीं है। वरन् प्रशंसा ही है। किन्तु अपने घर के पास, अपनी आँखों के सामने, जो महात्माओं के सुचरित्र विद्यमान हैं उन पर तुम उदासीनता प्रकट न करो। तुम लोगों के जातीय गौरव स्वरूप महात्मा राम-मोहन राय, ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, भूदेव मुखोपाध्याय, राज-नारायण वसु और कृष्णदास पाल आदि जितने महान् पुरुष अवतीर्ण हुए हैं, उनके आदर्श पवित्र चरित्र को कभी न भूलो। जो आदर्श तुम्हारे सामने विद्यमान हैं जिनका अनुकरण तुम बड़ी सुगमता से कर सकते हो, सुलभ आदर्शों की उपेक्षा कर केवल वैदेशिक आदर्श का अनुकरण करने से तुम उनकी बराबरी नहीं कर सकते। तुम लोगों के देश का जल-वायु, तुम लोगों का समाज, शिक्षा, संस्कार और अवस्था आदि सभी विदेशियों से विलक्षण हैं। अतएव विदेशी महात्माओं का सम्पूर्ण रूप से अनुकरण करना कभी हितकर नहीं हो सकता। तुम तभी उन्नत हो सकते हो और अपनी जाति का भी कुछ कल्याण तभी कर सकते हो जब तुम अपने देशवासी सज्जन महात्माओं के बताये पथ पर चलोगे। तुम अब बिल-कुल बालक ही नहीं हो, युवापन की सीमा में पाँव रख चुके हो। शिक्षा भी पा रहे हो। शिक्षा पाने के साथ ही साथ तुम्हारी बुद्धि और आचार व्यवहार भी संशोधित हो रहा

है और विचारने की शक्ति भी धीरे धीरे बढ़ रही है। अब एक बार तुम सोच कर कहो तो, तुमने कर्तव्य का कौन सा मार्ग अपने लिए पसन्द कर रक्खा है? अभी से यदि तुम अपने कर्तव्य का अन्वेषण न करोगे तो फिर कब करोगे?

तुम लोग 'स्वदेशानुरागप्रिय' न होकर केवल स्वदेश के सच्चे हितैषी और स्वजातिप्रिय बनो। जिसमें तुम्हारा बाहरी और भीतरी भाव एकसा प्रकट हो, तुम लोग आहार, व्यवहार, भूषण, वस्त्र और भाषा आदि का बर्ताव अपने देश के अनुकूल ही रक्खो। ऐसा न हो कि तुम्हारे स्वरूप से, तुम्हारी भाषा से, लोग तुम्हें न पहचान सकें कि तुम भी भारतमाता ही के एक सुसन्तान हो। आज कल कितने ही भद्र पुरुष भारत के योग्य सन्तान अधिकतर भोजन, वस्त्र और लैाकिक व्यवहार में विदेशी का अनुकरण करते हैं। वे ऐसा क्यों करते हैं? केवल वैदेशिक सभ्य समाज में सभ्य बनने के लिए। किन्तु भली भाँति समझ रक्खो, ऐसे अनुकरणशील भारतवासियों पर सभ्य विदेशिगण प्रायः हृदय से घृणा करते हैं और भारतवासियों की कुशिक्षा पर हँसते हैं।

गृहकलह

असल में हम लोगों के सर्वनाश का कारण घरेलू झगड़ा है। जो लोग संसार से सम्बन्ध रखते हैं उनका

किसी के साथ किसी समय मनोमालिन्य वा असमञ्जस होना स्वाभाविक विषय है। उन्नत दशा में प्राप्त हो चाहे नीच दशा में, स्वाधीन हो किंवा पराधीन, सभी जातियों में ऐसा होता है। आपस में कभी न कभी कुछ अनवन होही जाती है। इसी ख़याल से बात बात में साधारण विषय के लिए स्वजाति के साथ विवाद करके मुक़द्दमा खड़ा करना और परस्पर एक दूसरे को दबाने की चेष्टा करना अपने जातीय विरोध की घोषणा कर देश को कलङ्कित करना कदापि उचित नहीं है। जब तक हम लोग तिलमात्र भूमि के लिए सर्वस्व नष्ट करना पुरुषार्थ समझेंगे, सौ के लिए लाख पर हाथ फेरेंगे, तब तक उन्नति की कोई आशा नहीं। हम लोगों को यथासंभव घर का झगड़ा घर में ही निपटा लेना सर्वथा उचित है। यदि किसी एक वस्तु के लिए दो मनुष्य झगड़ रहे हैं और उसके लिए परस्पर मार पीट होने की सम्भावना है तो ऐसे अवसर में अपनी थोड़ी सी क्षति सह कर शान्त हो जाना यथार्थ में बड़प्पन की बात है। थोड़ा सा स्वार्थ त्याग करने ही से सारा बखेड़ा मिट सकता है। किन्तु भारत के दौर्भाग्य से आज कल ऐसे स्वार्थ-त्यागियों की संख्या बहुत ही अल्प है। स्वार्थपरता को तिलाञ्जलि दिये बिना कोई सहिष्णु अथवा क्षमाशील नहीं हो सकता। वैसे ही बिना क्षमाशील हुए कोई समाज की

उन्नति नहीं कर सकता और न जातीय दुर्बलता ही को दूर कर सकता है। गृह-विवाद में जब तक एक सहनशील न होगा तब तक कलहाग्नि किसी प्रकार शान्त नहीं हो सकती। ऐसे सज्जन विरले ही हैं जो कलहाग्नि को भड़कते देख अपने शीतल सलिलोपम सत्स्वभाव से उसे बुझाने की चेष्टा करें। नहीं तो दुष्ट लोग उनचासों वायु की शक्ति लेकर उस कलहाग्नि को प्रलयाग्नि बनाने के हेतु बिना बुलाये स्वयं आकर योग देने में कब चूकते हैं? जब तक भारत में ऐसे अनर्थकारी दुष्टात्माओं की वृद्धि रहेगी तब तक भारत की वृद्धि नहीं हो सकती। सच पूछो तो वेही लोग भारत के उन्नतिपथ के काँटे बने हुए हैं। जिस दिन भारत में किसी की कोई बुराई न चाहेगा, किसी के अनिष्ट होने की बात सुनकर कोई हर्ष न प्रकट करेगा उस दिन भारत अपने को निष्कलङ्क समझेगा। भारत को निष्कलङ्क बनाना भारतवासियों के हाथ में है।

मान लो, सभी लोग यदि स्वार्थान्ध हो जायँ तो निःस्वार्थ भाव का सत्पथ किसे कौन दिखलावेगा। और जो अन्धे हैं उन्हें पथच्युत होने की आशङ्का बनी ही रहती है। यही कारण है कि भारत में स्वार्थान्ध होने के कारण दिन दिन लोग पथच्युत हो रहे हैं। पथप्रदर्शक कहीं संयोग से एक हुआ भी तो हज़ारों स्वार्थान्ध उसे अपने समान जान उसके बताये मार्ग पर पाँव रखने में अपनी मानहानि

समझते हैं और यथेच्छ मार्ग से चल कर अंत में ठोकर खा गिर पड़ते हैं। ऐसे पतित व्यक्तियों से देशोद्धार की आशा करना वृथा है। स्वार्थान्ध विशाल नेत्रवालों से वह जन्मान्ध कहीं अच्छा है जो महात्मा के बताये मार्ग से कभी विच्युत नहीं होता।

जो स्वार्थ की रक्षा करते हुए यथासाध्य दूसरे का उपकार करते हैं वे उन स्वार्थियों की अपेक्षा अच्छे हैं जो दिन रात अपने ही लिए हाय हाय करते रहते हैं। "संसार के लोग भले ही भाड़ में जायँ पर मेरा अभीष्ट सिद्ध हो" इस प्रकार की स्वार्थता बड़ी ही निन्द्य और त्याज्य है।

मनुष्यों का यह एक स्वाभाविक धर्म है कि श्रेष्ठ लोगों की कही हुई बातों को ही प्रमाण मान कर तदनुसार काम करना चाहते हैं। श्रीकृष्णचन्द्र ने अर्जुन से कहा है— "यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते।" अर्थात् श्रेष्ठ पुरुष जो आचरण करते हैं और जिन बातों को मानते हैं, सर्वसाधारण लोग उन्हीं आचरणों को आदर्श मान कर और उन्हीं बातों को प्रामाणिक समझ कर काम करते हैं। कभी कभी लोग जान बूझ कर भी स्वार्थवश कर्तव्य में कुण्ठित हो जाते हैं। किन्तु जहाँ अपना एक साधारण उपकार अच्छे कामों के रास्ते में काँटा हो रहा है वहाँ अपने अभिलषित उपकार को तिरस्कृत

कर देना ही महत्त्व है। मान लो, कोई एक ऐसा स्वार्थ है जिससे तुम लाभ उठा रहे हो और हज़ारों की हानि हो रही है वहाँ तुम्हें स्वार्थ त्याग देना ही समुचित है। वह सुख किस काम का जो हज़ारों के मन में दुःख पहुँचा कर प्राप्त हो। जिनका हृदय उच्च है, जो जन्मभूमि के सच्चे हितैषी हैं वे वैसा ही काम करते हैं जिससे हज़ारों क्या लाखों मनुष्य सुख पाते हैं।

एक एक कर जब सभी लोग अपनी उन्नति की चेष्टा करेंगे और यथासाध्य कर्तव्य का पालन करेंगे तभी जाति की और देश की उन्नति होना सम्भव है। किन्तु पहले इसका निर्णय कर लेना बहुत ज़रूरी है कि देश का वास्तविक कल्याण क्या है ? यद्यपि इसका निश्चय करना कठिन है तथापि इस विषय में सच्चरित्र, विद्वान्, दीर्घदर्शी, महात्माओं का जो सिद्धान्त है उसे मान कर काम करना चाहिए। यदि तुम लोग बातों में जानना चाहो कि अपने देश और अपनी जाति का कल्याण किस तरह किया जा सकता है तो हम कह सकते हैं कि अपने स्वभावगत दोषों को दूर कर सच्चरित्र बनो और ऐसा काम करो जिसमें विदेशी लोग तुम्हारी प्रशंसा करें। देश का गौरव और सुख तुम्हीं लोगों के सद्व्यवहार पर अवलम्बित है। संसार में सभी लोग आदर्श पुरुष ही होकर जन्म नहीं लेते। सो

व्यक्तियों में कोई एक आदर्श हो जाता है। तुम यदि यह सोचोगे कि हम पहले अपने को आदर्श लोगों के समान कार्य्यक्षम बना लेंगे तब कोई काम करेंगे तो तुमसे कुछ न हो सकेगा। तुम्हें चाहिए कि अभी से छोटे छोटे अच्छे काम करने प्रारम्भ कर दो, आदर्श बनने की इच्छा को दूर कर केवल आदर्श पुरुषों के बताये सत्कर्मों का यथासाध्य अनुष्ठान करो। जैसे जैसे तुम्हारे सत्कर्म की संख्या बढ़ती जायगी वैसे वैसे तुम्हारा चरित्र सुधरता जायगा और तुम्हारी जन्मभूमि गौरवान्वित होती जायगी।

भारत में एक से एक बड़े आदर्श के रहते भी भारत की उन्नति नहीं होती; इसके कितने ही कारण प्रत्यक्ष हैं। उन प्रत्यक्ष कारणों में हमारी जातीय दुर्बलता प्रधान कारण है और यही भारत के लिए भारी कलङ्क है। संसार के सभी लोग हमें अनुकरणप्रिय कह कर हँसते हैं और तरह तरह की बातें कहा करते हैं। इन दिनों यह अनुकरणप्रियता एक प्रदेशगत न होकर सारे भारतवर्ष में फैल गई है। आज कल भारत में स्वाभाविकता लुप्त हो चली है और कृत्रिमता का युग आया है। लोगों के भाव, भाषा, पोशाक, आहार-व्यवहार, रुचि आदि से यह भली भाँति प्रकट होता है। खेद का विषय यही है कि भारत में इन दिनों विजातीय गणों के दोषों का ही लोग अधिक अनुकरण कर रहे हैं। वे

देशगत दोषों का उद्धार क्या करेंगे कि और दिन दिन दोषों का संग्रह कर देश को दोषों का भण्डार बना रहे हैं।

गुण के अनुकरण की अपेक्षा दोष का अनुकरण करना सुगम है। किन्तु दोष के अनुकरण में हानियाँ कितनी हैं, इसे भी तो सोचना चाहिए। दस दोषों का अनुकरण न कर एक गुण का अनुकरण करना अच्छा है। जैसे दोष में अनेक बुराइयाँ भरी हैं वैसे ही गुण में अनेक लाभ हैं। हम लोग यदि अपने अपने हृदय की ओर दृष्टि दें तो दोष ही दोष देखने में आवेंगे। हम लोग परस्पर एक दूसरे का विश्वास नहीं करते, साधारण से भी साधारण स्वार्थ का त्याग करना नहीं चाहते। इसी से हम लोग साझे का कोई कारबार नहीं कर सकते। हम लोग विदेशियों के यहाँ अधीनता स्वीकार करके बड़ी सावधानी के साथ मनोयोग-पूर्वक अपने कर्तव्य का पालन करते हैं, किन्तु अपने देश-वासी स्वजातीय की अधीनता स्वीकार कर सोत्साह मन से कर्तव्य-पालन नहीं करते। हम लोग केवल भय के अधीन होकर कर्तव्य का यत्किञ्चित् पालन करते हैं। किन्तु कर्तव्य समझ कर उसका पालन नहीं करते, अपने को कर्तव्य का पाबन्द नहीं जानते। इसका कारण श्रद्धा का अभाव है। जब तुम लोग स्वजातीय महान् व्यक्तियों पर श्रद्धा और

भक्ति करोगे, जब आपस में सबको सब पर विश्वास और सहानुभूति प्रकट होगी, जब अभिमान और स्वार्थपरता छोड़ कर अपनी जाति की अधीनता स्वीकार कर अपने कर्तव्य को भली भाँति सम्पन्न कर सकोगे तभी तुम जानोगे कि "हम उन्नत दशा में प्राप्त हुए हैं।" तब समझोगे कि विदेशी सत्पुरुषों की गुणावली का अनुकरण कुछ फलित हुआ है । अपने देश के उच्च आदर्शों की उपेक्षा करके विदेशीय दोषों का अनुकरण कर हम लोग कभी उन्नत दशा में प्राप्त नहीं हो सकते। बल्कि दोषों का अनुकरण करते करते हमारी दशा दिन दिन मन्द ही होती जायगी। इसी से कहा जाता है कि तुम लोग कालातिपात न करके स्वजातीय महानुभावों के बताये मार्ग का अनुसरण करो और पाश्चात्य देशवासियों के दोष का अनुकरण न कर उनके गुणों का ही अनुकरण करो। स्वदेशीय और विदेशीय के सद्गुणादर्श पर अपना चरित्र गठित कर उन महानुभावों की तरह जीवन बिता कर तुम भी संसार में अपनी अक्षय कीर्ति संस्थापित करो।

क्या देश, क्या जाति, क्या धर्म, जिस पर जिनका अनुराग होता है वह बचपन से ही उनके हृदय में अङ्कुरित होने लगता है। बुद्धिमानों की बुद्धि का परिचय बाल्यकाल से ही प्राप्त होने लगता है।

माइकेल मधुसूदनदत्त, नवाब अब्दुललतीफ़ और विज्ञवर भूदेव मुखोपाध्याय तीनों सहपाठी थे। एक समय ये तीनों एक साथ बैठ कर अपने अपने भविष्य जीवन के सम्बन्ध की बातें कर रहे थे। मधुसूदन ने कहा—"मैं बैरन के समान कवि होना चाहता हूँ।"

नवाब साहब ने कहा—"मेरी ख़्वाहिश है कि मैं किसी ऊँचे पद पर प्रतिष्ठित होऊँ।"

भूदेव बाबू ने कहा—"मैं यही चाहता हूँ कि देश के कल्याण-साधन में मेरा जीवन व्यतीत हो।" भूदेव बाबू ने प्रथम अवस्था में जो संकल्प किया था उसे अच्छी तरह निवाहा। इस महात्मा ने जीवन के शेष काल तक जन्मभूमि के लिए प्राणपण से परिश्रम कर देश का बहुत कुछ कल्याण किया। इन्होंने परोपकार करने में कभी मुँह न मोड़ा। इनका उपकारभवन सबके लिए अवारितद्वार था। जो साहाय्य पाने की आशा से उनके पास जाते थे, वे इनसे कुछ सहायता पाते ही थे। साधुता, चरित्र की निर्मलता, प्रेम, दया और निःस्वार्थपरता में भूदेव बाबू यथार्थ ही भूदेव थे। इस आदर्श पुरुष ने अनेक प्रकार से स्वजाति का कल्याण करके मरते दम तक अपनी जन्मभूमि का स्मरण रक्खा। कुछ विशेष धनवान् न होकर भी कर्तव्यप्रिय भूदेव बाबू ने देश की भलाई के कामों में अपने उपार्जित डेढ़ लाख रुपये दान

कर दिये। उनकी यह उदारता क्या साधारण महत्त्व की बात है? सब लोग द्रव्य से देश का उपकार नहीं कर सकते। धनवान् धन देकर, विद्वान् विद्यादान करके और कर्मवीर अपने शारीरिक बल से देश का यथासाध्य उपकार कर सकते हैं। जो जिस अवस्था में हैं, इच्छा करने से वे उसी अवस्था में देश का कुछ न कुछ उपकार अवश्य कर सकते हैं। तुम लोग ऐसा कभी न सोचो कि "हमसे क्या हो सकता है।" चेष्टा करने से बहुत कुछ देश का कल्याण कर सकते हो। उच्च आदर्श को सामने रख अपने अपने चरित्र को सुधारो, लज्जा और अभिमान को त्याग कर कर्तव्य-पालन करो और सत् पथ से कभी विचलित न होओ। तुम अपने को इस योग्य बनाओ जिसमें अन्यान्य लोग भी तुम्हारे चरित्र का अनुकरण कर सुधरें और सत्कर्म के अनुष्ठान में प्रवृत्त हों। राजनीति के विरुद्ध कोई काम करके अपने देश का गौरव बढ़ाने की चेष्टा न करो, देशानुशासन के आज्ञानुमोदित कार्य्य करके ही यथासाध्य अपनी जाति की उन्नति करो। ऐसा करने से यदि तुम बालक भी हो तो वृद्धवत् सर्वत्र सम्मान पाओगे। अलौकिक वा असाधारण कोई काम न करके भी तुम देश की दशा सुधार सकते हो। सबसे पहले देशोन्नति के लिए चरित्र का सुधार ही आवश्यक है। जब तुम लोग चरित्रबल प्राप्त करोगे तभी भारत का कलङ्क दूर होगा।

देशोपकार

"असाधारण काम करने की प्रबल शक्ति सब मनुष्यों में नहीं होती, किन्तु यथासाध्य सर्वदा हितकर काम करने का सामर्थ्य सभी मनुष्यो में होता है।"

एक अङ्गरेज़ सौदागर के कार्य्यालय में एक हिन्दुस्तानी मुनीम का काम कर रहा था। वह किसी समय सख़्त बीमार हो गया। यह सुन कर कार्यालय के अध्यक्ष उसे देखने गये। मुनीम की ईमानदारी और सच्चरित्रता से साहब उस पर पूरा विश्वास और स्नेह रखते थे। "ऐसा सच्चा विश्वासपात्र आदमी ढूँढ़ने से भी जल्दी नहीं मिलेगा। उस मुनीम के न रहने से व्यापार-सम्बन्धी कामों में बड़ी हानि पहुँचना सम्भव है।" इस प्रकार भांति भांति की चिन्ता करते हुए साहब मुनीम के पास पहुँचे। साहब को देख कर व्याधिपीड़ित मुनीम का मुरझाया हुआ मुँह कुछ प्रफुल्लित सा हो गया और वह बड़े कष्ट से तकिये के सहारे बैठ कर साहब को इस सुजनता और सदय व्यवहार के लिए बहुत बहुत धन्यवाद देने लगा। साहब उसकी बीमारी का हाल पूछते और आश्वासन देते हुए अचम्भे के साथ विस्फारित नेत्र से उसके घर के चारों ओर देख कर और उल्लसित हो कर बोले—"बाबू, आप सच मुच अपने

देश के अनुरागी हैं।" जो लोग घर में बैठे थे वे सभी चकित हो कर साहब के मुँह की ओर देखने लगे। साहब ने उन लोगों के हृदय का भाव समझ कर कहा—"आप लोगों को आश्चर्य्य होता होगा, किन्तु मैं देख रहा हूँ, इनके सदृश स्वजाति-हितैषी और स्वदेशप्रिय व्यक्ति आपके इस भारत में बहुत कम हैं। भारत के कितने ही स्वदेशहितैषी सम्भ्रान्त लोगों से मेरा परिचय है। उनमें कोई सुवक्ता हैं, कोई सुलेखक हैं और कोई राजकीय उच्चपद के अधिकारी हैं। उन लोगों ने अपने देश की भलाई का काम करके अच्छा नाम हासिल किया है, किन्तु मेरे मुनीम के सदृश निरपेक्ष और निश्छल बहुत थोड़े होंगे। इनका आचार, व्यवहार, भोजन, भूषण, वस्त्र आदि सभी अपने देश के अनुकूल हैं। अपने देश की बनी वस्तुओं पर बाबू को एक हार्दिक अनुराग है। भारत में मुझे एक बड़ी विचित्र बात तो यह देखने में आती है कि यहाँ के निवासी बड़े बड़े प्रसिद्ध स्वदेशहितैषिगण अपने घर को विलायती विलास-सामग्रियों से और और युरोप की अन्यान्य सजावट की चीज़ों से सुसज्जित करते हैं। उन सजावटी चीज़ों के लिए वे हज़ारों रुपये ख़र्च कर डालते हैं, किन्तु इनका यह लम्बा चौड़ा घर अपने देश की बनी हुई चीज़ों से ही सजा हुआ है और इसी से घर की इतनी अधिक शोभा बढ़ रही है।"

यह सुन कर उस मुनीम का मुँह और नेत्र हर्ष से प्रफुल्लित हो उठे। उसने मुसकुरा कर कहा—"मैं आपके सदय व्यवहार से अत्यन्त कृतार्थ हुआ हूँ। मेरे देशानुराग के सम्बन्ध में जो कुछ आपने कहा है, उसमें मेरे बड़प्पन की कोई बात नहीं। वह मैंने अपना कर्तव्य समझ कर किया है और कर्तव्य के पालन में ही सच्चा सुख है। मैंने जिस देश में और जिस समाज में जन्म लिया है, उस देश को और उस समाज को अपना देश और अपना समाज कहने का मुझे अधिकार है। वे दोनों ही मेरे आदरणीय हैं और मेरे अनुराग की सामग्री हैं। उनकी उन्नति की चेष्टा करना और उनके कल्याण की बात सोचना मेरा पहला कर्तव्य है। जिनको जितना सामर्थ्य है वे उतना ही काम करके अपने कर्तव्य का पालन कर सकते हैं। मैं स्वजातीय आदर्श पुरुषों पर विशेष भक्ति और श्रद्धा रखता हूँ इसलिए मैंने उन लोगों की पवित्र मूर्तियों से अपने घर को सुशोभित कर रक्खा है। इन सब चित्रों के देखने से स्मरण हो आता है कि इन लोगों ने अपने देश के कौन कौन से काम भलाई के किये हैं। जब इन लोगों की उदारता की बात सोचता हूँ तब हृदय आनन्द और उत्साह से भर जाता है। अपने देश के बने वस्त्र, घर के उपकरण और अलङ्करणीय वस्तुएँ मुझको अत्यन्त प्रिय हैं। अपने देश की शिलपकारी को मैं हृदय

से चाहता हूँ। इसलिए अपने देश के श्रमजीवियों के उत्साह-वर्द्धनार्थ उनके हाथ की बनाई हुई चीज़ों को, प्रयोजन न रहते भी, ख़रीद लेता हूँ। आप लोगों की भाषा और साहित्य से सम्बन्ध रखता हूँ सही, किन्तु स्वदेशीय सुलेखकों की पुस्तकें प्रकाशित होते ही ख़रीदता हूँ। अपने देश के बालक-बालिकागण जिसमें सच्चरित्र और सुशील हों उसका हृदय से यत्न करता हूँ। मेरी एक मात्र यही इच्छा है कि हमारे भारत-देशवासी दूसरी जाति की अयोग्यता और दोषादोष की समालोचना में समय न बिता कर अपनी जाति के युवकगणों को सच्चरित्र बनाने का प्रयत्न करें और दूसरे के दोषों पर दृक्पात न करके पहले अपनी त्रुटि का संशोधन करें और अपने घर के दूषित व्यवहारों को सुधारें।

साहब ने कहा—"बाबू, आपका ख़याल बहुत ऊँचा है। आपके गुणों से जो मुझे प्रसन्नता हुई है वह वाक्यों के द्वारा प्रकाशित नहीं की जा सकती।"

मुनीम ने कहा—"मेरी जो अवस्था अभी बीत रही है उससे मेरे बचने की अब आशा नहीं है। इसलिए मैं अपने एक मात्र पुत्र को अभी आपके हाथ सौंपता हूँ। आप मेरे पालक हैं, पिता के समान हैं, इसे दयादृष्टि से देखेंगे और जिसमें यह सुपथगामी हो, अच्छे रास्ते से कभी विचलित

न हो, इसे ऐसा सदुपदेश देंगे। आपका आना मेरे लिए बड़ा ही उपकारक हुआ। ये सब मेरे पड़ोसी, जो यहाँ उपस्थित हैं, बड़े ही प्रतिष्ठित हैं। यह काग़ज़ मैं आपके हाथ अर्पण करता हूँ। आप मेरे इस जीवन की वासना को पूरी करेंगे।" यह कह कर मुनीम ने चन्द काग़ज़ात साहब के हाथ में दे दिये। अनन्तर बेटे को अपने पास बैठा कर कहा—"बेटा, बाल्यकाल में मैं बड़ा ही दुर्वृत्त था, मेरे दुःस्वभाव, कठोर भाषण और अविनय से दुःखी होकर मेरे पिता मुझ से बराबर नाराज़ रहा करते थे। पिता ने बड़े यत्न से मेरा लालन-पालन किया, बहुत द्रव्य ख़र्च करके मुझे शिक्षा दिलवाई, पुत्र के प्रति पिता का जो कुछ कर्तव्य है उन्होंने प्रायः सब किया; किन्तु मेरे बुरे आचरण से अत्यन्त अप्रसन्न होकर आख़िर उन्होंने मुझे घर से निकाल दिया और पोष्य पुत्र तक लेने का मन में संकल्प कर लिया। इसी अवसर में एक साधु महात्मा की कृपा से मेरी मति बदल गई। मुझमें जो स्वभावगत दोष थे वे धीरे धीरे दूर हो चले। सत्सङ्ग के प्रभाव से कुछ दिनों में मेरा चरित्र सुधर गया। मैंने अपने को पिता का असन्तोष-भाजन जान कर मन में यही निश्चय किया कि भीख माँग कर और परमेश्वर का भजन करके जीवन बिताऊँगा। किन्तु उस महात्मा ने मुझ से कहा—"वत्स, भीख माँग कर जीवन बिताने की बात कभी

मन में न लाओ। भीख माँगना बड़ाही निकृष्ट कर्म है। जगदीश्वर ने इस संसार की रचना इस अभिप्राय से नहीं की है कि लोग आलसी होकर अपने जीवन को व्यर्थ बिता दें। यह संसार कर्म-क्षेत्र है। कर्म करना मानो ईश्वर की आज्ञा-पालन करना है। तुम स्वयं कोई काम न करके दूसरे के श्रमलब्ध धन का अंश ग्रहण करके पेट भरोगे, यह कदापि युक्तिसंगत नहीं है। तुम असमर्थ नहीं हो, ईश्वर ने तुम्हारे शरीर में शक्ति दी है, तुमने शिक्षा प्राप्त की है, तब भी यदि तुम दूसरे का गलग्रह होकर रहना चाहो तो तुम अपने को देश का शत्रु समझो। इसलिए मैं कहता हूँ कि यदि मेरी बात मानो तो खेती, बनज, अथवा शिल्पकारी का कोई काम करो। अभिप्राय यह कि किसी अच्छे व्यवसाय का अवलम्बन करो। तब तुम अपने परिवार का भी पालन कर सकोगे और दीन-दुखियों का कुछ उपकार भी कर सकोगे।" उन महात्मा के उपदेश को स्वीकार कर मैं सौदागरी ऑफ़िस में काम करने लगा, जो अब तक कर रहा हूँ। जब मेरे पिता ने मेरे चरित्र-संशोधन की बात सुनी तब उन्होंने फिर मुझ पर प्रसन्नता प्रकट कर मुझे अनुग्रह का पात्र बनाया। अन्तकाल में जो कुछ धन उनके पास था वे सब मुझको दे गये। उनसे जो कुछ धन मुझे मिला उसको मैंने कभी अपने हाथ से नहीं छुआ। वह ज्यों का त्यों सुरक्षित है। वह पैतृक धन मैं तुम्हें दिये

जाता हूँ। विना विशेष प्रयोजन पड़े तुम भी उसे लेने के लिए हाथ न बढ़ाना। तुम्हारी जो स्वतन्त्र सम्पत्ति है उसी की सहायता से तुम अपने अभावों को पूर्ण करना। जिस स्वतन्त्र-सम्पत्ति का नाम मैंने अभी लिया है, वह अक्षय सम्पत्ति तुम्हारी सुशिक्षा और चरित्र-बल है। तुम अपनी सुशिक्षा और सच्चरित्रता से अपने सभी अभावों की यथासाध्य पूर्ति कर सकोगे।

किसी अच्छे व्यवसाय का अवलम्बन करके नीति-पूर्वक उपार्जित धन का परिमित रूप से ख़र्च किया जाय तो सुख से परिवार-पोषण करने पर भी प्रचुर धन-संचय हो सकता है। अपव्यय करने ही से लोग अभावग्रस्त होते हैं। जो अपव्यय नहीं करते उन्हें प्रायः कभी अभाव का सामना नहीं करना पड़ता। मैं औद्धत्य-पूर्ण जीवन की गति रोक कर साधुमतानुसार अपना जीवन-निर्वाह करके प्रायः एक लाख रुपया अब तक जमा कर सका। जिसमें आधा तुम्हें मिलेगा और आधा स्वदेशीय श्रम-जीवियों और अनाथों की सहायता में व्यय होगा। वे रुपये किस तरह, किसको, कितने दिये जायँगे इसका विशेष विवरण उस कागज़ में लिखा हुआ है जो अभी मैंने साहब के हाथ में दिया है। वत्स, मेरा जीवन अब पूर्ण हुआ। ईश्वर तुम्हें दीर्घायु करें और तुम्हें अच्छी बुद्धि दें। सत्संग का त्याग कभी न करो। दुष्ट

लोगों की बातों में पड़ कर कभी पथच्युत न होओ। "चरित्र सुधारने से क्या होगा" ऐसा कभी मन में न सोचो। धन-सम्पत्ति की अपेक्षा चरित्र को ही श्रेष्ठ समझो।" इतना कहते कहते मुनीम की ज़बान रुक गई। उसकी आँखों से आँसू की धारा बह चली। थोड़ी देर तक सभी लोग चुप रहे। रुग्ण मुनीम क्लान्त होकर तकिये पर सिर रख कर चुपचाप लेट रहा। साहब आँसू भरी आँखों से और उदास मुँह से उठे और कई एक प्रतिष्ठित पड़ोस वालों को साथ ले अपनी कोठी की ओर रवाना हुए।

वह मुनीम जो कुछ लिख कर गये थे साहब ने उसका उचित रूप से रक्षण किया। कुछ दिन के बाद उसका बेटा उसी के पद पर नियुक्त हुआ।

राजभक्ति

माननीय सुवक्ता सुरेन्द्रनाथ वन्द्योपाध्याय जब राजकीय विषय में वक्तृता देने पञ्जाब गये थे तब समाज-संस्कारक, राजभक्त, केशवचन्द्रसेन ने उन्हें यही सलाह दी थी कि "ब्रिटिश गवर्नमेंट का शासन ईश्वरदत्त है, जिसमें यह बात सब पर भली भाँति विदित हो, आप वही करें।"

ईश्वर की आज्ञा-पालन करने में भारतवासी प्राणों तक का मोह नहीं करते। यह बात महात्मा केशवचन्द्र भली भाँति जानते थे और वे यह भी जानते थे कि वैदेशिक राजा के प्रति भारत के भिन्न भिन्न प्रदेशवासी सर्वसाधारण प्रजागणों के हृदय में राजभक्ति उत्तेजित करने के लिए इस से बढ़ कर और कोई अच्छा उपाय नहीं है। महाराज मनु ने कहा है—"जहाँ राजा नहीं वहाँ नाना प्रकार के उपद्रव आ खड़े होते हैं। इसलिए ईश्वर ने लोगों के रक्षार्थ ईशान, इन्द्र, वायु, यम, सूर्य, अग्नि, चन्द्र, और कुवेर इन आठ दिक्पालों का अंश लेकर राजाओं की सृष्टि की है।" यह शास्त्र का वचन केवल विद्वान् ही लोग जानते हैं यह बात नहीं है। हिन्दूमात्र जानते हैं कि राजा देवता का अंश लेकर जन्म लेते हैं। "बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः। महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति" मनुजी के इस वचन को भारतवासी हिन्दू हृदय से मानते हैं। इसी कारण हिन्दू राजा को बड़ी ही पूज्य दृष्टि से देखते हैं और उनकी पूजा तथा दर्शन पुण्यमूलक समझते हैं; उनकी प्रसन्नता के लिए नानाप्रकार का मङ्गलाचार करते हैं। भारत में राजभक्ति एक स्वाभाविक गुण है। इसे कोई अत्युक्ति न समझे। स्वदेशी हों, चाहे विदेशी, स्वधर्मी हों, चाहे विधर्मी, वृद्ध हों या बालक, कोई क्यों न हो, राजसिंहासन पर विराजमान

हो कर नीतिपूर्वक प्रजापालन करने ही से हिंदू उन्हें अष्ट दिक्पालों का अंशावतीर्ण मानेंगे, उन्हें देवता समझ कर पूजेंगे और उनका उचित राजसम्मान करेंगे। जो राजा स्वयं राज्यशासन का काम नहीं कर सकते वे प्रतिनिधि तथा अन्यान्य राजकर्मचारियों के द्वारा अपने कर्तव्य का सम्पादन करते हैं। ये प्रतिनिधि और राजकर्मचारिगण भी प्रजागणों के राज्यतुल्य ही आदरणीय हैं। और प्रत्येक भारतवासी की भावना भी ऐसी ही है। अत्यन्त दीर्घदर्शी, ज्ञान के अपार सागर, ऋषिगण और नीतिज्ञ जन, राजा और प्रजाओं के बीच जो यह पवित्र सम्बन्ध निर्णय कर गये हैं उसे कभी न भूलो। कभी उसका त्याग न करो।

जिस समय बादशाह अकबर दिल्ली के राजसिंहासन पर विराजमान थे, उस समय उनके कितने ही प्रधान कर्मचारि देशी राजा ही थे, जो बड़े शक्तिशाली थे और साम्राज्य की सभी बातों से परिचित थे, राजभक्ति, शासन-प्रणाली और राज्य के गूढ़ रहस्य की कोई ऐसी बात न थी जो उन लोगों को मालूम न हो। किन्तु उन लोगों ने क्या कभी विधर्मी बादशाह के निकट छल से सिर नवाया था? वे लोग सच्चे हृदय से बादशाह के भक्त और शुभचिन्तक थे। इसका कारण राजभक्ति ही समझनी चाहिए। हमारी राजभक्ति धर्म में परिगणित है। क्या हिन्दू, क्या मुसलमान,

क्या क्रिस्तान—राजा सब बराबर हैं, सभी पूज्य हैं। उनमें भेदज्ञान करना अनुचित है। वे ईश्वर के भेजे हुए एक अतुल शक्तिशाली देव हैं और हम लोगों के वही कर्ता हर्ता हैं। हमें चाहिए कि सर्वदा अपने राजा का हृदय से कल्याण मनावें और उनकी आज्ञा का पालन करें।

कुरुक्षेत्र और प्रभास क्षेत्र के महायुद्ध में हिन्दुओं का ऐश्वर्य, हिन्दुओं की ज्ञानशक्ति और हिन्दुओं का साम्राज्य जब एक ही साथ नष्ट हो गया; बड़े बड़े तेजस्वी ऋषिगण और धर्म-नीतिज्ञगण अन्तर्हित हो गये; शास्त्र, शिल्पज्ञान, और विज्ञान का दीप बुझ गया, तब भारत के उस भयङ्कर महाश्मशान के बचे कुछ अंशमात्र राजपुताना, मणिपुर और दाक्षिणात्य प्रभृति इने गिने देश रह गये सही, किन्तु पूर्वपुरुषों का जो महत्त्व था उसे प्रायः सब खो बैठे। विलासप्रियता दिन दिन बढ़ने लगी। एक एक कर सभी देशों में संकीर्णता और कुसंस्काररूपी अन्धकार छा गया। अनाचार, अत्याचार, ईर्ष्या, द्वेष, हिंसा, गृहविवाद आदि दुर्व्यवहारों से यह पवित्र भारतभूमि पैशाचिक लीला की वीभत्स नाट्यशाला बन गई। भारत का पुनरुत्थान एक प्रकार असंभव सा हो गया। किन्तु यह देवभक्त सभ्यता का आदिनिवासस्थल पुण्यभूमि भारतदेश इस प्रकार सर्वनाश को प्राप्त हो, यह ईश्वर की इच्छा न थी। ईश्वर ने

भारतवासियों की उद्दण्डता दूर करने के लिए इसका शासनभार मुसलमानों के हाथ दिया। मुसलमानों का शासनकाल पूरा हुआ, पर तो भी भारतवासी उद्यमहीन, आलसी और दुर्वृत्त के दुर्वृत्त ही बने रहे। परस्पर का विद्वेष बना ही रहा। ईश्वर ने सोचा, जब तक विशेषशक्तिशाली, उद्योगशील, उदार, न्यायी और सुचरित्र जाति के द्वारा भारत का सम्पूर्णरूप से शासन न होगा तब तक भारतवर्ष की उन्नति न होगी, तब तक देश की दशा न सुधरेगी और न तब तक कोई कर्तव्य-परायण होगा। इसी से भारत का शासनभार ईश्वर ने अङ्गरेज़ों को सौंपा। हम लोग शान्तिपूर्वक रहने ही में परम सुख मानते हैं। अङ्गरेज़ों के शासनकाल में हम लोगों ने वही शान्ति पाई है। भारत में जो पहले अतुल ऐश्वर्य्य था, जिसका वर्णन पुराण, काव्य और इतिहास-ग्रन्थों में पाया जाता है, जिसका कुछ बचा हुआ अंश अब भी जहाँ तहाँ देखने में आता है; किसी समय यह एक दम लुप्त हो गया था। जलमार्ग और स्थलमार्ग दोनों भयावह हो रहे थे। जहाँ सुन्दर शहर बसा था वहाँ भयानक जंगल उपज गया था। अच्छे अच्छे धान के खेत मैदान बन गये थे। मुनिगणों का शान्तिमय तपोवन हिंस्र जन्तुओं और चोर-डाकुओं का विश्रामस्थान हो गया था और कितने ही मज़बूत क़िले और देवालय ज़मीन के

नीचे दब गये थे, जिनका अङ्गरेज़ के शासन-समय में अब धीरे धीरे पुनरुद्धार होने लगा है। यद्यपि अब भी सभ्य लोगों के प्राचीन-कालिक कला-कौशल के विसयोत्पादक चिह्न कहीं कहीं कुछ दिखाई देते हैं ग्रोर मुसलमानों ने अपनी शिलपकारी के द्वारा उन्हें कुछ परिष्कृत भी किया था तथापि वार वार की लड़ाई-भिड़ाई से, धर्म, समाज ग्रोर देश के दुर्दशापन्न होने से हस्तलिखित अनेक शास्त्र, गुप्तविद्या, विज्ञान आदि भारत की अमूल्य रत्नावली कहाँ छिप गई यह अब ढूँढ़े भी नहीं मिलती। आज कल दैहिक ग्रोर मानसिक बल प्राप्त करने की शिक्षा का प्रचार ग्रोर जिस देश ग्रोर जाति के पुनरुद्धार की कुछ आशा न थी उनका सुधार ग्रोर भाषा का परिष्कार सर्वत्र हो रहा है। सभी लोग देशोन्नति की बात सोच रहे हैं। पाश्चात्य विज्ञान की शिक्षा से लाभ उठाने का प्रयत्न कर रहे हैं। इन दिनों किसी के धन, धर्म ग्रोर प्राण पर किसी प्रकार की विपद् का भय नहीं रहा। चोर-डाकुग्रों की संख्या दिन दिन घटती जा रही है। कितने ही जङ्गली असभ्य जाति के लोग शिक्षित बनाये जा रहे हैं। भारत के एक प्रान्त से दूसरे प्रान्त में जाने के लिए जलमार्ग ग्रोर स्थलमार्ग दोनों सुगम हो गये हैं। भिन्न भिन्न प्रादेशिक भाषाग्रों की क्लिष्टता दूर कर दी गई है, इस समय सभी अपने प्रतिवासी के साथ एक

भाषा में आलाप करके प्रसन्न होते हैं। लड़के लड़कियों को सुशिक्षित बनाने के लिए विशेष चेष्टायें की जा रही हैं। सभी के लिए सुविचार का रास्ता खुल गया है। समुद्र-पार जाकर संसार की प्राकृतिक शोभा देख कर चित्त प्रसन्न करने के लिए इससे अच्छा अवसर मिलना संभव नहीं और विविध जातियों की रीति, नीति, आचार, विचार, भाव, भाषा और विज्ञान आदि की शिक्षा ग्रहण करने का, तथा उन लोगों के साथ वाणिज्य-व्यापार करके विशेष धन प्राप्त करने का, रास्ता साफ़ हो गया है। हम लोग अपने सुख दुःख की बात राजा के कानों तक पहुँचाने का अधिकार पाये हुए हैं। उद्यमशील और प्रतिभाशाली उन्नत जाति का कार्य्य-कौशल देख हम लोगों की जड़ता और आलस्य दिन दिन क्षीण होता जाता है और उन्नति का उत्साह दिन दिन बढ़ रहा है। अपने सुधार का इससे अच्छा अवसर कब प्राप्त होगा? भारत के युवकगण, अब तुम्हें सुविधा के लिए और क्या चाहिए? तुम्हें जो कुछ अधिकार दिया गया है, उस पर यदि तुम, अच्छी तरह चलोगे तो, बहुत कुछ देश का उपकार कर सकोगे। वैदेशिक जितनी चीज़ें हैं सब बुरी हैं, ऐसा ख़याल कभी न करो। जो चीज़ अच्छी है वह हर हालत में अच्छी है। जिसके द्वारा हम उपकृत हो चुके हैं, उसके लिए हमें अवश्य कृतज्ञता प्रकाशित करनी चाहिए।

सब जातियों में सब लोग समान ही गुणशील के नहीं होते। व्यक्तिगत दोष देख कर सम्पूर्णजाति को ही दूषित ठहराना उचित नहीं। तुम अँगरेज़ों के चरित्र की जितनी समालोचना करोगे उतना ही अधिक तुम्हें गुण देखने में आवेगा। अङ्गरेज़ बहादुरों ने कैसे समय में हमारा क्या उपकार किया है, जिन्हें हम अपने धर्म के प्रतिकूल मानते हैं उन लोगों ने हमारा भाषा-विषयक और शिक्षा-सम्बन्धी कहाँ तक हित-साधन किया है, इन बातों को जितना सोचोगे उतना ही उन लोगों के प्रति कृतज्ञ होगे।

कृषि, वाणिज्य, शिल्प, शिक्षा आदि किसी विभाग में जो हम पूर्णता को नहीं प्राप्त होते हैं यह हमारी ही त्रुटि है। हमारी अवनति का कारण हमारी अयोग्यता है। स्थिरचित्त से विचार कर देखोगे तो स्पष्ट दिखाई देगा। सरकार ने हम लोगों की उन्नति का रास्ता खोल दिया है। राज के प्रधान कर्मचारिगण मीठी मीठी बातों से, उत्तेजक वाक्यों से, कभी कभी उपदेश के व्याज से धिक्कार वाक्यों से और भी अनेक प्रकार से हम लोगों की आँखें खोल देने की चेष्टा किया करते हैं, उन्नति-साधन के लिए हमें उत्साहित करते हैं। ऐसा सुअवसर पाकर भी यदि हम अपनी उन्नति के लिए चेष्टा न करें, परिश्रम न करें तो यह हमारा ही दोष कहा जायगा। इस प्रकार समझाये जाने पर भी यदि

हम अपने कर्तव्य पर ध्यान न दें तो इसमें दूसरे का क्या दोष है?

राजा की आज्ञा के अनुसार चलना ही राजभक्त का लक्षण है। कोई राजाज्ञा के विरुद्ध चलने में दण्डित होने के भय से, कोई अभीष्ट सिद्धि की इच्छा से, ख़ुशामद करके राजा का अनुग्रह-लाभ करने की चेष्टा करते हैं। ख़ुशामद अत्यन्त घृणित वृत्ति है। युक्तिपूर्वक ख़ुशामद से राजा की प्रसन्नता प्राप्त करने पर भी वह हृदय की हीनता-द्योतक ही समझी जायगी। राजा भी ऐसा नहीं चाहते कि कोई उन्हें ख़ुशामद के द्वारा प्रसन्न करके अपना स्वार्थ सिद्ध करे। ख़ुशामद की बातों से वे कभी ख़ुश नहीं हो सकते। जो कोई भक्तिपूर्वक उनकी आज्ञा का पालन करेगा वह बिना ख़ुशामद किये ही उनका प्रीतिभाजन बनेगा। जो लोग राजनियम के अनुसार चलते हैं, उन्हें दण्ड पाने का भय नहीं रहता। भयवश कोई काम करने की अपेक्षा भक्ति-वश काम करना विशेष फलप्रद है। तुम अपने मन में ऐसा कभी न समझो कि ख़ुशामद न करने से तुम अश्र-द्धेय या अप्रीतिभाजन बनोगे। ख़ुशामद के लिए हम शिष्टता की सीमा क्यों उल्लङ्घन करें? किसी व्यक्ति का एक दोष देख कर उसके अन्यान्य गुणों की प्रशंसा क्यों न करें? हम अपनी शक्ति के अभाव और बुद्धि के दोष से जिस

स्वच्छन्द शान्तिमय जीवन को प्राप्त नहीं कर सकते, वह जिनकी कृपा से पा सकते हैं उनकी कृतज्ञता हम हृदय से क्यों न प्रकाश करें? उनका उपकार हम क्यों न मानें? जिस प्रकार संसार में अधिकांश लोग अपने बुद्धिदोष से अभीष्ट फल-साधन में असमर्थ होते हैं और अपने भोग्य पदार्थों से वञ्चित होकर पछताते हैं उसी प्रकार हम अपने बुद्धिकौशल से और दूसरों के उदारगुण से दूसरों का भोग्य पदार्थ भी प्राप्त कर सकते हैं।

जिस विलासप्रियता, आलस्य और गृह-विवाद के कारण राजपूतों का गौरव-सूर्य अस्त हुआ, उन्हीं कारणों से जब मुसलमानों की अमलदारी भी नष्ट हो गई, तब संभव था कि उस अराजकता के समय अपेक्षाकृत बलवान् नूतन शक्तिशाली कोई अन्य जातीय राजा यहाँ अपना अधिकार जमा लेता। किन्तु हम लोगों के सौभाग्य से, जो जाति इस समय संसार में सबकी अपेक्षा अधिक शक्तिशाली है, जो अपने ज्ञान-बल से, बाहुबल से, ऐश्वर्यबल से और चरित्र-बल से समस्त सभ्यजातियों में अग्रसर हो रही है, उसी महोन्नत जाति ने भारत के शासन का भार अपने हाथ में लिया। यदि अङ्गरेज़ लोग भारत में न आते तो हम लोगों ने इस आधी शताब्दि में जो कुछ उन्नति की बातें देखी हैं वे कई शताब्दियों में भी शायद दिखाई नहीं देतीं।

न कोई मनुष्य भ्रमशून्य हो सकता है और न कोई जाति दोष-शून्य हो सकती है। जो बात एक जाति के सामने सभ्यता समझी जाती है वही अपर जाति की दृष्टि में अशिष्टता का रूप धारण करती है। किन्तु जो बात सात्त्विक गुण से सम्बन्ध रखती है वह सर्वत्र समभाव से माननीय है। कोई जाति ऐसी नहीं जिसमें गुण-दोष दोनों मिले न हों। तो जिस जाति में गुण का भाग अधिक है उस जाति को आदर्श मान कर चलने से, और बराबर उसके गुणों पर दृष्टि रखने से विशेष कल्याण की सम्भावना है। तुम लोग इस उन्नतिशील जाति के सम्पर्क से विद्या, बुद्धि, साहस, उद्योगपरता और सहिष्णुता आदि अनेक गुणों के आधार स्वरूप प्रचुर शिक्षा का लाभ कर सकते हो। अतएव ऐसे शुभावसर में गाल पर हाथ रख चुपचाप बैठे न रहो। यथासंभव उन्नति की चेष्टा करो।

केशवचन्द्र सेन महाशय ने इस प्रकार के सैकड़ों प्रबन्ध लिख कर भारतवासियों को राजभक्त होने के निमित्त कई वार कितने ही उपदेश दिये थे। राजा के साथ प्रजा का सद्भाव सर्वदा बना रहे, एतदर्थ वे जगदीश्वर के निकट सर्वदा प्रार्थना करते थे। ये, और महात्मा कृष्णदासपाल, राजा और प्रजा के बीच सेतु-स्वरूप थे। ये लोग राजभक्ति के साथ ही साथ कभी कभी राजकीय कार्य में दोष

भी दिखलाया करते थे, इससे सरकार उनसे अप्रसन्न न हो कर उनका सत्परामर्श सादर स्वीकार करती थी। इसका कारण यह है कि ये लोग द्वेषबुद्धि से दोष की आलोचना न कर शुद्ध हृदय से, कोमल शब्दों में, विनय-पूर्वक, यथावसर त्रुटि दिखला कर अच्छी सलाह देते थे। इससे उनकी राजभक्ति और भी अधिक प्रकाशमान होती थी। केशव बाबू राजभक्ति को ही धर्म का मूल सिद्धान्त मानते थे। वे सर्वदा ऐसी ही चेष्टा करते थे, जिसमें सर्वदा राज्य में शान्ति बनी रहे। इस विषय में उनका आवेग और उत्तेजनामय वाक्य ही उनके सहायक थे। वे राजा के अनुग्रह-लाभ करने की इच्छा नहीं रखते थे। सरकार ने उन्हें कई बार उच्च पद और विशेष उपाधि से सम्मानित करना चाहा, किन्तु उन्होंने कभी स्वीकार न किया। पर तो भी प्रधान राज-पुरुष गणों ने, यहाँ तक कि स्वयं राजराजेश्वरी महारानी विक्टोरिया ने, उनका यथेष्ट सम्मान किया था। वे भारतेश्वरी को माता के समान जानते थे और ब्रिटिश शासन में, उन्हें प्रत्यक्ष ईश्वर की महिमा देख पड़ती थी, इसी से उन्होंने अपने अन्तःकरण की बात प्रकट करके कहा था—"ब्रिटिश का शासन ईश्वरप्रदत्त है।" हम लोगों को चाहिए कि अङ्गरेज़ के शासन-काल की स्थिरता के लिए ईश्वर से नित्य प्रार्थना करें। हम लोगों को अङ्गरेज़ से अभी बहुत कुछ शिक्षा

ग्रहण करना बाक़ी है। तुम लोग ख़ुशामद अथवा भय के वशवर्ती होकर राजभक्ति दिखलाने की चेष्टा न करो, बल्कि अपने धर्मशास्त्र की आज्ञा के अनुसार राजा को देवता का अंश जान कर उनकी आज्ञा पालन करो और उपकृत मनुष्यों की तरह अपने रक्षक और उपकारक गवर्नमेन्ट की कृतज्ञता प्रकाश कर शुद्धहृदय से राजभक्त बनो।

भगवद्भक्ति

श्रेयःस्रुतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये ॥
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥

श्रीमद्भागवत

भावार्थ—"हे नाथ, जो लोग आपकी कल्याण-कारिणी भक्ति को छोड़ कर केवल ज्ञान प्राप्ति के लिए क्लेश उठाते हैं, उन्हें सिवा क्लेश के और कुछ फल हाथ नहीं आता, जैसे चावल निकले हुए धान के तुषों के कूटनेवालों को क्लेश के सिवा कुछ फल उपलब्ध नहीं होता इसी तरह भक्ति के बिना कोरा ज्ञान व्यर्थ है।

मनुष्यों को केवल विद्या पढ़ कर और कोरी पण्डिताई करके ही सन्तुष्ट न हो जाना चाहिए। कोई मनुष्य विविध

विद्यापारङ्गत, प्रतिभाशाली और बहुदर्शी हो सकता है, किन्तु नैतिक बल और सच्चरित्रता के अभाव से वह सभ्य-समाज में गण्य नहीं हो सकता। किसी के हृदय में जब कुवृत्ति का अभ्यास पड़ जाता है तब बुद्धि उसे सहसा नहीं रोक सकती। जिन्हें नैतिक बल का अभाव है उन्हें धार्मिक होने के लिए बुद्धिबल का भरोसा करना वृथा है। नैतिक बल-हीन व्यक्ति बुद्धिमान् होकर भी कर्तव्य-विमुख और अकर्तव्य-परायण हो जाते हैं। जो शक्ति नैतिक बल में है वह बुद्धि में नहीं है। बुद्धि केवल मार्ग दिखलाने वाली है। पथिक जान बूझ कर पथच्युत हो जाय, इसकी उत्तरदायिनी बुद्धि नहीं। किन्तु नैतिक बल पथ पर चढ़े हुए व्यक्ति को विचलित नहीं होने देता। मनुष्य को बुद्धि रहते भी नैतिक बल की उपेक्षा न करनी चाहिए। जैसे बुद्धि के साथ नैतिक बल का अल्प सम्बन्ध है वैसे ही विद्या के साथ भी बहुत ही कम सम्बन्ध है। यदि ऐसा न होता तो जो लोग उच्च शिक्षा पाये हुए हैं, साहित्य-संसार का अलङ्कार कहला कर विख्यात हैं, और मेधावी हैं, उनमें कोई कोई मद्यपानासक्त, अपव्ययी और दुरा-चारी क्यों होते ? उनकी वह विशाल विद्या, प्रतिभा और मेधा उन्हें पाप-चिन्ता और अपकर्म से क्यों नहीं हटाती ? अतएव क्या स्त्री, क्या पुरुष, सबके लिए यही प्रथम शिक्षा आवश्यक है कि वे धर्म और नीति-पथ के पथिक हों। जो

शिक्षा धर्म और नीति से रहित है वह शिक्षा नहीं, वरन् कुशिक्षा है। जिस कर्म में धर्म और नीति का सम्बन्ध नहीं है वही अपकर्म है। जिन्हें बाल्यावस्था में धर्म और नीति की शिक्षा नहीं दी जाती, वही दुश्चरित्र होकर अपने वंश को और अपने देश को कलङ्कित करते हैं। शिक्षा का मुख्य उद्देश, बालकों को दुश्चरित्र से बचाना है। दुश्चरित्र विद्वान् से वह मूर्ख कहीं बढ़ कर अच्छा है जो सच्चरित्र है। सच्चरित्रता के अभाव से कोई अपना ही कल्याण नहीं कर सकता, वह दूसरों का कल्याण क्या कर सकेगा? बालकों को सच्चरित्र बनाने के लिए नीति और धर्म का उपदेश देना प्रारम्भिक शिक्षा है। बचपन में जो चित्र हृदयपट पर खिंच जाता है वह मिटाये भी नहीं मिटता। अतएव बालकों के हृदय में धर्म और नीति का बीज सबसे पहले ही अंकुरित होना चाहिए। चरित्र बिगाड़नेवाली बातों से उन्हें स्वप्न में भी सम्पर्क न होना चाहिए।

यद्यपि देश, काल, जाति, समाज और संस्कार के भेद से धर्म और उपासना भिन्न भिन्न है तथापि सब धर्मों का मूल-सूत्र एक ही है। सभी सम्प्रदायों के उपास्य और आश्रय एक ईश्वर ही हैं। वही जगत्पिता हैं, वही जगद्गुरु हैं, वही सम्राट् के सम्राट् हैं, और वही चराचर के प्रधान शासक तथा पालक है। वे सत्य, प्रेम, दया, न्याय, ज्ञान

और मङ्गल का अक्षय भण्डार हैं। उन सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर में अटल विश्वास और भक्ति करना ही धर्म का प्रथम साधन है। जिस पर तुम्हारी भक्ति होगी, जिस पर तुम्हारा प्रेम होगा, उसकी प्रसन्नता के काम तुम अवश्य करोगे। अतएव तुम्हें यदि भगवान् में भक्ति होगी तो नीतिपूर्वक लोकोपकारी काम करने की तुम में स्वतः प्रवृत्ति होगी और अनुचित कामों पर घृणा उत्पन्न होगी। श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है—"अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्। साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितोहि सः। क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।" अर्थात् जो दुराचारी है, किन्तु शुद्ध मन से ईश्वर का भजन करता है वह थोड़े ही दिनों में धर्मात्मा होकर शान्ति-सुख पाता है। इसलिए बालको, यदि तुम निश्छल भाव से ईश्वर की भक्ति करोगे, सच्चे मन से ईश्वर की उपासना करोगे, तो संसार के सभी मनुष्य तुम्हें सच्चरित और धर्मात्मा कह कर तुम्हारा सम्मान करेंगे। ईश्वर की भक्ति के द्वारा जब तुम्हारे हृदय में कर्तव्य बुद्धि जाग्रत होगी और बुरे कामों से घृणा उत्पन्न होगी तब तुम ईश्वर के प्रीतिकर कामों को आपही समझने लगोगे।

किसी पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि "कर्तव्य का पालन करना ही धर्म है। जो लोग उचित कर्म का त्याग नहीं

करते उनके धर्म की रक्षा आप ही आप होती है।" हमारे शास्त्रकारों ने भी तो यही कहा है—"धर्मस्तु विहितं कर्म ह्यधर्मस्तद्विपर्ययः ।" जीवन की सार्थकता तभी है जब धर्म का पालन होता रहे। धर्म-हीन जीवन मृत्यु का नामान्तर मात्र है। बल्कि अन्यायपूर्वक जीवन से मरण श्रेष्ठ है। धर्म में प्रवृत्त होने के लिए प्रथम मनुष्यत्व का ज्ञान होना आवश्यक है। मनुष्यत्व का ज्ञान तभी हो सकता है जब ईश्वर में निष्कपट भक्ति और विश्वास उत्पन्न हो। निष्कर्ष यह कि मनुष्यों का प्रथम कर्तव्य, प्रथम साधन, भगवद्भक्ति ही है। भगवद्भक्ति प्राप्त करने वालों को धार्म्मिक या सच्चरित्र होना कठिन नहीं। ईश्वर में अटल विश्वास और भक्ति मनुष्यत्व-लाभ करने का प्रथम सोपान है। जो ईश्वर के भक्त नहीं हैं वे मनुष्य होकर भी मनुष्यता से रहित हैं, अतएव विद्याध्ययन के साथ ही साथ बालकों के हृदय में ईश्वर भक्ति का अङ्कुर उत्पन्न हो जाना चाहिए, जो युवावस्था में फूलने फलने योग्य हो। वे बालक युवा होने पर अपने चरित्र को ठीक नहीं रख सकते, जिन्हें बचपन में भगवद्भक्ति और धर्म की शिक्षा नहीं दी जाती। नीतिपूर्वक चलने पर भी तब तक मनुष्य का जीवन अधूरा रहता है जब तक उसे भगवद्भक्ति प्राप्त न हो। उस त्रुटि को पूरा करनेवाली भक्ति ही है। मान लो, हमने सभी काम अच्छे किये, पर ईश्वर

में हमारी भक्ति न हुई तो हमारे मनुष्य-जीवन में एक भारी त्रुटि रह गई। जिनका हृदय कोमल, शान्त और विशुद्ध है उन्हें ईश्वर की आराधना करने का अधिकार अवश्य प्राप्त होता है। पर उस अधिकार की सफलता तभी है जब ईश्वर में प्रेम उत्पन्न हो। अन्यान्य अनेक शुभ साधन से चरित्र सर्वाङ्गसुन्दर होने पर भी उसकी कठोरता दूर नहीं होती। कभी कभी तो उसकी कठोरता उसके सारे सौन्दर्य्य को पार करके बाहर निकल पड़ती है। किन्तु भगवद्भक्ति में चित्त को द्रवित करने वाली वह अनुपम शक्ति है जो चरित्र को अमृत के समान मीठा और नवनीत के सदृश कोमल बना देती है। चरित्र मनुष्य को मनुष्यत्व प्रदान करती है किन्तु भगवद्भक्ति चरित्रवान् को देवत्व प्रदान करती है और उनके आगे अलौकिक आनन्द लाकर रख देती है। तब तक वह भक्ति सम्प्राप्त नहीं होती जब तक पवित्र हृदय से उसका अनुशीलन न किया जाय। ईश्वर में भक्ति उत्पन्न होने के अनेक साधन हैं। यथा भक्तजनों का जीवन-चरित्र और भक्तिमूलक ग्रन्थों का पढ़ना, भगवद्भक्त साधुओं से सत्सङ्ग कर उनके उपदेशानुसार चलना, उनके चरित्र में सौन्दर्य्य और माधुर्य्य का अनुभव करना आदि। जो ईश्वर की भक्ति को हृदय से चाहेगा उसे वह अवश्य मिलेगी। अतएव यदि अपने मनुष्य-जीवन को सार्थक करना चाहो तो भगवद्भक्त बनो।